नित्यकर्म-विधि

यज्ञ तथा अन्य आवश्यक कर्म

...ान्तिकरण, बृहद्-हवन-मन्त्रार्थ सहित

लेखक—
युधिष्ठिर मीमांसक

आवश्यक सूचना

इस पुस्तक के प्रकाशन के लिये माता श्रीमती प्रेमदेवी जी दरगन ने ४ सहस्र रुपया दान दिया है। परन्तु मुद्रणकाल में कागज तथा अन्य सामान में असाधारण वृद्धि हो जाने से इस पर लगभग ४७५० रु० व्यय हुए हैं। इस प्रकार इसकी लागत प्रति पुस्तक ६५ पैसा आई है। दानदाता के विशेष अनुरोध पर हम इसका मूल्य प्रचारार्थ इतना रख रहे हैं; जिससे भेंट दी जाने वाली, रख-रखाव में खराब होने वाली पुस्तकों की पूर्ति तथा थोक खरीददार को दिया जाने वाला स्वल्प कमीशन और इस पुस्तक में लगा मूलधन वापस प्राप्त हो जावे, जिससे यह पुस्तक भविष्य में भी इसी प्रकार बराबर छपती रहे।

विशेष—यतः इस पुस्तक का मूल्य प्रचारार्थ अतिस्वल्प रखा है, इसलिये इस पुस्तक पर १५% प्रतिशत ही कमीशन दिया जायेगा। यह १५% कमीशन भी कम से कम २५ पुस्तकों के आर्डर पर ही दिया जायेगा, उससे कम पर नहीं।

निवेदक—
युधिष्ठिर मीमांसक
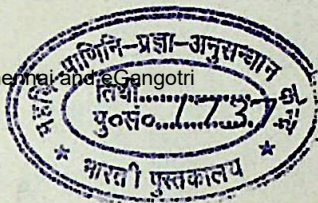
ओ३म्

वैदिक-नित्यकर्म-विधि

लेखक—
पं० युधिष्ठिर मीमांसक

प्रकाशक—
मन्त्री—श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट,
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)

मुद्रक—
सुरेन्द्र कुमार कपूर,
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस, सोनीपत।

निर्धारित मूल्य

प्रथम संस्करण ५०००

ज्येष्ठ सं० २०२८
मई सन् १९७१

मूल्य १-२५ 2/-
प्रचारार्थं

यह 'वैदिक-नित्यकर्म-विधि' नामक पुस्तक

माता श्रीमती प्रेमदेवी जी दरगन ने

अपने

स्वर्गीय पतिदेव श्री केशवचन्द्र जी दरगन

की

पुण्य स्मृति में

प्रकाशित कराई है।

स्व० श्री केशवचन्द्र जी दरगन
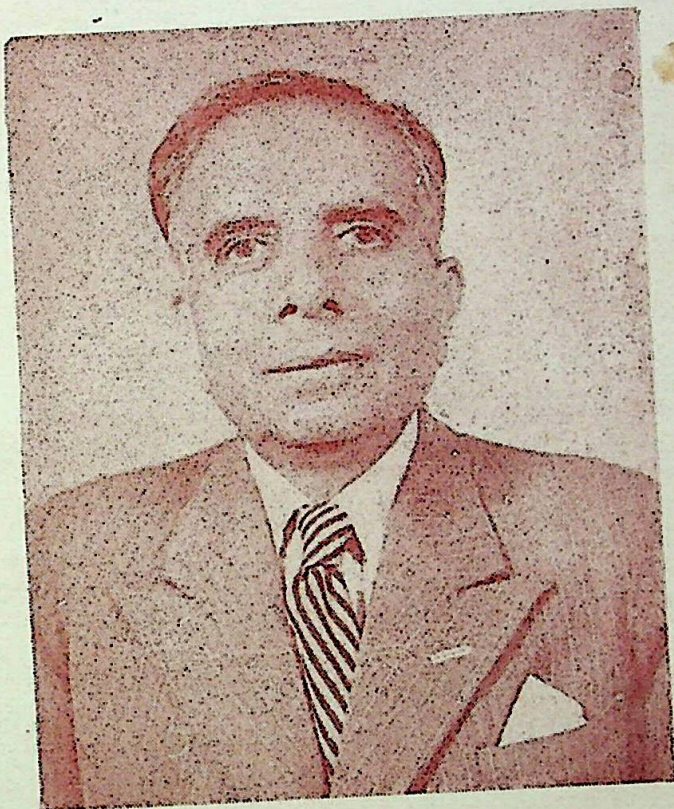
जन्म १९ दिसम्बर १९१४ निधन १४ मई १९७१
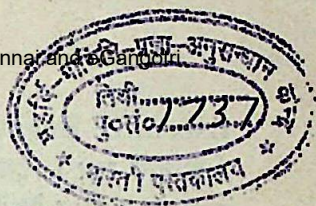
स्वर्गीय श्री केशवचन्द्र जी दरगन

का

परिचय

श्री केशवचन्द्र जी दरगन का जन्म १९ दिसम्बर १९१४ में मुलतान शहर (पाकिस्तान) में हुआ था। आपके पिता का नाम श्री सेवाराम जी दरगन था। मुलतान में आपका मकान देहली दरवाजे के अन्दर सागवाले मुहल्ले में था। श्री केशवचन्द्रजी ने क्वेटा (पाकिस्तान) से 'सीनियर केमब्रिज' पास किया, और फिर विवाह के बाद आगे पढ़ाई के लिये १९३६ में इंगलेंड चले गए। वहां पर ५ साल का कोर्स Bristol में Mechanical Engineering का पास किया। फिर Bristol Aeroplane Company में सर्विस करते रहे। १९३९ में अपनी धर्मपत्नी श्रीमती प्रेमदेवीजी को भी वहीं पर बुला लिया। उन्होंने वहां पर एक General Store खोला और आपका व्यापार बहुत बढ़ा। फिर ये दोनों पति-पत्नी १९५० में भारत वापिस आ गए।

यहां श्री केशवचन्द्र जी दरगन ने पंजाब सिंचाई विभाग में December 1952 में सर्विस कर ली, और भाखड़ा बांध परियोजना पर इंजिनियर नियुक्त हुए। भाखड़ा बांध का काम जब समाप्त हुआ, तो आपका transfer फिर ब्यास परियोजना पर हो गया। वहां पर कुछ समय तलवाड़ा में और फिर पण्डोह (हिमाचल) में रहे। September 1969 में आपका transfer हरियाणा प्रान्त में हो गया, और वहां पर सिंचाई विभाग में टोहाना डिविजन के

Executive Engineer नियुक्त हुए। वहां पर आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहा। इसलिये December 1969 में अवकाश लेकर उपचार के लिए देहली चले गये, परन्तु स्वास्थ्य बिगड़ता ही गया। धर्मपत्नी और सम्बन्धियों के भरसक प्रयत्न करने पर भी आप ठीक न हो सके, और 14.5.1970 को आपका स्वर्गवास हो गया।

आप ईश्वर-भक्त, सरल-स्वभाव, प्रसन्नचित्त और ईमानदार होने के कारण अपने ऊपर वाले अधिकारियों और नीचे के कर्मचारियों, दोनों में लोकप्रिय थे। आपको आर्यसमाज और वैदिक-धर्म से विशेष प्रेम था।

यह पुस्तक आपकी धर्मपत्नी श्रीमती प्रेमदेवी जी दरगन अपने स्वर्गीय पतिदेव की स्मृति में छपवा रही हैं। इसके लिए उन्होंने श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट को 4000 (चार सहस्र) रुपया दिया है। इसके अतिरिक्त उनकी स्मृति में 'सत्यार्थ-प्रकाश' छपवाने के लिए भी 14000 (चौदह सहस्र) रुपया दान दिया है। इस धन से रामलाल कपूर ट्रस्ट इन दोनों पुस्तकों को उनकी स्मृति में सदा छापता रहेगा।

नांगल टाउनशिप — आसकरण दास

वैशाखी सं० २०२८ — सरदाना

प्रकाशकीय

यह पुस्तक माता श्रीमती प्रेमदेवी जी दरगन ने अपने स्वर्गीय पतिदेव श्री केशवचन्द्र जी दरगन की स्मृति में प्रकाशित कराई है। इस के लिये उन्होंने श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट को ४००० (चार सहस्र) रुपया दान दिया है। इस धन से यह ट्रस्ट स्वर्गीय श्री दरगन जी की स्मृति में इस पुस्तक को सदा प्रकाशित करता रहेगा।

इस पुस्तक का संकलन और मन्त्रों की व्याख्या श्री पं युधिष्ठिर जी मीमांसक ने की है। पुस्तक के संकलन और मन्त्र-व्याख्या के विषय में लेखक ने अपने सम्पादकीय वक्तव्य में अपने विचारों का स्पष्टीकरण कर दिया है। इसलिये उसके सम्बन्ध में यहां कुछ लिखना पिष्टपेषण होगा। श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने जिस अतिस्वल्प काल में इस पुस्तक को उत्तम रीति से तैयार किया है, उसके लिये हम लेखक के आभारी हैं।

माता श्रीमती प्रेमदेवी जी ने 'सत्यार्थ-प्रकाश' का शुद्ध सुन्दर संस्करण प्रकाशित करने के लिये भी १४००० (चौदह सहस्र) रुपया ट्रस्ट को दान दिया है। 'सत्यार्थ-प्रकाश' के सम्पादन का कार्य भी आरम्भ हो गया है। यह ग्रन्थ भी शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

इन दोनों पुस्तकों के प्रकाशन के लिये माता श्रीमती प्रेमदेवीजी ने जो दान ट्रस्ट को दिया है, उसके लिये हम उनका धन्यवाद करते हैं। उनके इस दान से ट्रस्ट इन दोनों पुस्तकों को सदा उनके पतिदेव स्वर्गीय श्री केशवचन्द्र जी दरगन की स्मृति में छापता रहेगा।

इस शुभ कार्य को सम्पन्न कराने के लिये प्रेरणा देनेवाले श्री

बा० ग्रासकरण दासजी सरदाना (नांगल टाऊन शिप) के भी हम बहुत ग्रभारी हैं, जिन्होंने श्रीमती माता प्रेमदेवी जी को इस पवित्र कार्य की पूर्ति के लिये प्रेरित किया।

इस समय बिजली की बहुत (३०-४० प्रतिशत) कमी कर दिये जाने पर भी दो मास के ग्रल्प समय में ट्रस्ट के प्रेस-कर्मचारियों ने जिस कठिनाई से पुस्तक छाप कर दी है, उसके लिये हम प्रेस के सभी कर्मचारियों के भी ग्राभारी हैं।

लगभग एक वर्ष से संशोधन-कार्य के लिये संशोधन-कार्य में ग्रनुभवी ग्रौर प्रवीण श्री पं० महेन्द्र जी शास्त्री का सहयोग हमें प्राप्त है। ग्राप के सहयोग से ग्रन्थों के शुद्ध ग्रौर सुन्दर मुद्रण में हमें बहुत सहायता मिल रही है। इसके लिए हम श्री शास्त्री जी के भी बहुत ग्राभारी हैं।

विशेष—ट्रस्ट ने माता श्रीमती प्रेमदेवी जी दरगन की ग्रभिलाषा को ध्यान में रखकर इस पुस्तक का मूल्य लागत मात्र इतना ही रखा है, जिससे बिक्री द्वारा ग्रगले संस्करण के लिये दाता द्वारा दिया हुग्रा धन वापस संगृहीत हो जावे।

बहालगढ़ सुरेन्द्र कुमार कपूर,
३१ मार्च १९७१ उपमन्त्री, रामलाल कपूर ट्रस्ट

सम्पादकीय

'वैदिक-नित्यकर्म-विधि' नामक इस ग्रन्थ में आर्यों के सभी नित्यकर्मों का संकलन किया गया है। इनकी विधि ऋषि दयानन्द-विरचित 'पञ्चमहायज्ञविधि' और 'संस्कारविधि' के अनुसार दी है। शेष स्नानादि के समय पठनीय मन्त्रों का विनियोग हमारा है।

संध्या की विधि के विषय में ऋषि दयानन्द के लेख का यथार्थ भाव न समझने के कारण अनेक भिन्नतायें उत्पन्न हो गई हैं। हमने ऋषि दयानन्द के अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए शास्त्र-प्रमाण का आश्रय लिया है। इस विषय में हमने इस पुस्तक के पृष्ठ ६-११ तक विचार किया है।

दैनिक अग्निहोत्र को पूरी विधि ऋषि दयानन्द ने 'संस्कार-विधि' में दी है, परन्तु प्राय: दोनों समय का अग्निहोत्र एक ही समय करने का प्रचलन हो गया है, इस कारण विधि में प्राय: असमानता दिखाई पड़ती है। हमने इस असमानता को दूर करने के लिए भी शास्त्रीय नियमों का आश्रयण करके विधि का निश्चय किया है। इस पर हमने इस पुस्तक के पृष्ठ ११-१४ तक विचार किया है।

साप्ताहिक बृहद्यज्ञ की पद्धति ऋषि दयानन्द ने नहीं लिखी। इस कारण आर्यसमाजों के साप्ताहिक यज्ञों में बहुत भिन्नतायें उपलब्ध होती हैं। हमने 'संस्कारविधि' में ऋषि दयानन्द निर्दिष्ट पाक्षिक यज्ञ की पद्धति का आश्रय लेकर साप्ताहिक यज्ञ का क्रम निर्धारित किया है। इस विषय में हमने पृष्ठ १४-१८ तक विचार किया है।

मन्त्रों के आरम्भ में उच्चार्यमाण 'ओम्' के प्रयोग के सम्बन्ध में भी विप्रतिपत्ति देखने में आती है। अनेक लोग यज्ञों में मन्त्र के अन्त में 'स्वाहा' से पूर्व भी ओम् का प्रयोग करते हैं। इन दोनों के विषय में हमने पृष्ठ १५-१६ पर शास्त्रीय पद्धत्यनुसार संक्षेप से प्रकाश डाला है।

जिन मन्त्रों के अन्त में 'स्वाहा' पद पठित है, उनसे आहुति देते समय अनेक व्यक्ति पुनः 'स्वाहा' का प्रयोग करते हैं। इसके विषय में हमने ऋषि दयानन्द की पद्धति के आधार पर ही संक्षेप से पृष्ठ १६ पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

ऋषि दयानन्द कर्मकाण्ड के प्राचीन आर्षग्रन्थ ब्राह्मण, श्रौत-सूत्र और गृह्य-सूत्रों को प्रमाण मानते हैं। उन्होंने 'संस्कारविधि' में इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर संस्कारों की विधियां दी हैं। इसलिए हमारा विचार है कि जहां कहीं भी विधि के सम्बन्ध में अस्पष्टता हो, वहां उनका स्पष्टीकरण ऋषि दयानन्द-सम्मत प्राचीन आर्षग्रन्थों के आधार पर ही करना चाहिए, अपनी बुद्धि से कल्पना नहीं करनी चाहिए। साधार विचार करने पर ही यज्ञों की विधियों में उत्पन्न हुई विभिन्नताओं को हम दूर कर सकते हैं, केवल स्वबुद्धि के अनुसार विचार करने से भिन्नतायें बढ़ती ही चली जायेंगी।

हमने प्रचलित विभिन्नताओं को दूर करने के लिए शास्त्र-प्रमाण का ही आश्रय लिया है। यदि इसमें हमारी अल्पज्ञता के कारण कहीं शास्त्र-विपरीत कुछ लिखा गया हो, तो हम कर्मकाण्ड-प्रवीण विद्वानों से निवेदन करना चाहते हैं कि वे शास्त्र-प्रमाण-पूर्वक हमारी भूल दर्शावें। हम अपनी भूल का साभार संशोधन करके अगले संस्करण में उसे ठीक कर देंगे।

मन्त्रार्थ के विषय में

इन कर्मों में विनियुक्त मन्त्रों के अर्थ अनेक विद्वानों ने किए हैं। उन अर्थों में प्रायः भेद पाया जाता है। उस भेद को दूर करने के लिए हमने **नैकपदानि निर्ब्रूयात्** (निरुक्त २।३) तथा **प्रकरणश एव तु मन्त्रा निर्वक्तव्या** इस शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार प्रकरण और ऋषि दयानन्द के विनियोग के अनुसार ही मन्त्रार्थ करने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से हमारा यह प्रयास इस क्षेत्र में प्रथम प्रयास है।

सन्ध्या के अघमर्षण और मनसा-परिक्रमा के मन्त्रों में पाठकों को कुछ नवीनपन अखर सकता है, परन्तु अघमर्षण मन्त्रों का सम्बन्ध सृष्टि-रचना के साथ होने से हमने मन्त्र-ब्राह्मण तथा अन्य आर्ष ग्रन्थों में सृष्टि-रचना का जो क्रम उल्लिखित है, उसके आधार पर इन मन्त्रों का सृष्टि-रचनाक्रम-बोधक व्याख्यान किया है। यदि हम आर्ष ग्रन्थों में वर्णित सृष्टि-रचनाक्रम-बोधक वचनों पर बिना ध्यान दिये लोक-प्रसिद्ध शब्दार्थ के अनुसार व्याख्यान करें तो वैदिक ज्ञान में दोष उपस्थित होता है। यथा—द्वितीय मन्त्रस्थ **'संवत्सर'** शब्द का अर्थ यदि वर्ष कर दें, तो यहां क्रम-भंग दोष उपस्थित होगा। वर्ष=संवत्सर की कल्पना सूर्य और पृथिवी की उत्पत्ति के पीछे पृथिवी के परिभ्रमण पर आश्रित है। सूर्य चन्द्र तथा पृथिवी की रचना तृतीय मन्त्र में कही है। तब सूर्य पृथिवी के निर्माण से पूर्व कैसे उत्पन्न हो सकता है[१] ? यदि कहा जाये कि यहां क्रम विवक्षित संवत्सर नहीं, तो भी अक्रम-वर्णन दोष तो रहेगा ही।

---

१. बाइबल उत्पत्ति पुस्तक के आरम्भ (आयत १५-१७) मे चौथे दिन सूर्य चांद का बनाना लिखा है, और उससे पूर्व पहले दूसरे तीसरे दिन की गणना की है। ऋषि दयानन्द ने स० प्र० १३ वें समुल्लास में आयत ६-७-८ की समीक्षा करते हुए **'दूसरा दिन हुआ'** की समीक्षा में लिखा है—'जब सूर्य उत्पन्न नहीं हुआ था, तो पुनः दिन रात कहां से हो गई' ?

मानसा-परिक्रमा के मन्त्रों के अर्थ भी हम ने ऋषि दयानन्द द्वारा लिखित **मनसा-परिक्रमा-मन्त्राः** शीर्षक से बोधित विनियोग को प्रधानता देते हुए किए हैं।

स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण के मन्त्रों के अर्थों में हमारे पूर्व व्याख्याताओं ने एकरूपता नहीं रखी। इन मन्त्रों में आये किन्हीं पदों का ईश्वरपरक व्याख्यान कर दिया और किन्हीं का भौतिक पदार्थपरक। हमने ऋषि के प्रकरण-बोधक शीर्षकों के आधार पर ईश्वर के द्वारा उत्पादित सृष्टि के विविध देवों=दिव्य शक्तियों से स्वस्ति=कल्याण और शान्ति=सुख की ईश्वर से प्रार्थना में विनियोग मानकर सृष्टिगत विविध पदार्थों के वाचक शब्दों का तत्परक ही अर्थ करने का प्रयत्न किया है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि ये पद ईश्वरवाचक नहीं हैं। जब इन मन्त्रों की आध्यात्मिक व्याख्या होगी, तो ये पद ईश्वरवाचक होंगे। प्रक्रिया-भेद से अर्थ में भेद होता है, यह वैदिकों का सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। इसलिए हमने इस पुस्तक में विभिन्न प्रकरणों में आये मन्त्रों की भिन्न-भिन्न व्याख्या की है। यथा तच्चक्षुः० मन्त्र की सन्ध्या में ब्रह्मपरक और शान्तिकरण में सूर्यपरक। इसी प्रकार शं नो देवी० मन्त्र की व्याख्या भी प्रकरणानुसार ब्रह्म और जलपरक की है। कुछ मन्त्र ऐसे भी हैं, जिन की एक ही स्थान पर विनियोग भेद से दो प्रकार की व्याख्या की है। यथा सन्ध्या में शं नो देवी० मन्त्र की। सन्ध्या का मुख्य प्रयोजन ब्रह्मोपासना में है, किन्तु साथ में ही इससे आचमन का भी विधान किया है। अतः उपासना की दृष्टि से ब्रह्मपरक और आचमन में विनियोग होने से जलपरक दोनों अर्थ लिखे हैं।

आशा है पाठक वृन्द हमारी शास्त्रानुसृत व्याख्या को इसी दृष्टि से देखेंगे।

सन्ध्या में विनियुक्त मन्त्र

अनेक सज्जन यह जानना चाहते हैं कि ऋषि दयानन्द ने इन्द्रिय-स्पर्श के ओं वाक् वाक्० ; मार्जन के ओं भूः पुनातु शिरसि० और प्राणायाम के ओं भूः० आदि मन्त्र कहां से लिये हैं ? यद्यपि हम यह बताने में असमर्थ हैं कि ऋषि दयानन्द ने ये मन्त्र कहां से लिये हैं, परन्तु इन मन्त्रों का इन्हीं कर्मों में विनियोग प्राचीन काल से अनेक वैदिक कर्मकाण्डी जन सन्ध्या में करते रहे हैं। भूतपूर्व लालचन्द पुस्तकालय, डो० ए० वी० कालेज लाहौर, जो अब विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान होशियारपुर में सुरक्षित है, उसमें सन्ध्या-सम्वन्धी अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ विद्यमान हैं। उन में से—

१. य० त्रिकाल सन्ध्या पुस्तक (सं० ७८६)तथा सन्ध्यात्रयम् (सं० ४६३) में वाक् वाक् प्राणः प्राणः आदि मन्त्र पठित हैं (अन्त का एक एक मन्त्र नहीं है)।

२. सन्ध्यात्रयम् (सं० ४६३)में ओं भूः पुनातु, ओं भुवः पुनातु आदि मंत्र अभिषेक (छींटे देना=मार्जन करना) में विनियुक्त हैं। इस पुस्तक में प्रत्येक मन्त्र के साथ मार्जन-स्थान के निर्देशक शिरसि, नेत्रयोः आदि पद पठित नहीं हैं। किन्तु मार्जन क्रमशः इन्हीं स्थानों का किया जाता है। प्रतीत होता कि ऋषि दयानन्द ने विनियोग के याथार्थ्य-बोध के लिए[1] इन मन्त्रों से जिन स्थानों का मार्जन किया जाता है, उनको भी मन्त्र का अङ्ग ही बना दिया, अथवा उन्होंने जिस स्रोत से इन मन्त्रों को प्राप्त किया, वहां पर वैसा ही पाठ रहा होगा।

---

१. यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वा अभिवदति (गोपथ उ० २।६)। कर्म की यही समृद्धि=पूर्णता है कि जो कर्म किया जाता है, उसे ऋचा वा यजुः मन्त्र कहते हैं।

३. प्राणायाम-मन्त्र ओं भूः ओं भुवः आदि तैत्तिरीय आरण्यक[1] प्र० १०, अनु० ३५ में पठित हैं। प्रायः सभी मुद्रित सन्ध्याओं में ये मन्त्र प्राणायाम में विनियुक्त है।[2]

४. शिखाबन्धन में गायत्रीमन्त्र का विनियोग 'गायत्रीमन्त्रेण शिखाबन्धनम्' य० त्रिकाल-सन्ध्या (सं० ७८६) में मिलता है।

५. अघमर्षण और उपस्थान में ऋषि दयानन्द द्वारा विनियुक्त मन्त्र सं० विधि में निर्दिष्ट (जातवेदसे सुनवाम मन्त्र-सहित) प्रायः सभी सन्ध्याओं में मिलते हैं।

ओं वाक् वाक्, ओं भूः पुनातु० आदि मन्त्र हस्तलिखित सन्ध्या-पुस्तकों में विद्यमान हैं, यह बात हमें अपने ट्रस्ट के पुस्तकालयाध्यक्ष वयः-श्रुत-वृद्ध श्री पं० हंसराज जी (भूतपूर्व पुस्तकालयाध्यक्ष डी०ए० वी० कालेज लाहौर) ने अभी अभी बताई है। उनके पास सुरक्षित संगृहीत उद्धरणों के आधार पर हमने ऊपर निर्देश किया है। इन उद्धरणों के लिए हम उनके अत्यन्त अनुगृहीत हैं। श्री माननीय पण्डित जी के पास विविध विषयों के सहस्रों उद्धरण संगृहीत हैं। आज कल आप स्वसंगृहीत उद्धरणों को विषय वार संकलित करने का कार्य कर रहे हैं। यदि उनका प्रकाशन हो जावे तो अनेक वैदिक विषयों पर अभूतपूर्व प्रकाश पड़ेगा। लगभग ९० वर्ष की अवस्था में भी आप दिन रात अपने कार्य में जुटे रहते हैं।

सन्ध्या-अग्निहोत्र के विषय में विशेष निर्देश

आर्यजनों की प्रायः यह शिकायत सुनने में आती है कि सन्ध्या में हमारा मन नहीं लगता। इसके जहां अनेक कारण हैं, उनमें एक

---

१. आनन्द आश्रम पूना संस्करण के अन्त में द्वितीय पाठ के रूप में पठित प्रपाठक १०। २. द्रष्टव्य सन्ध्याभाष्यसमुच्चय आनन्दाश्रम संस्करण।

यह भी है कि हम सन्ध्या के अङ्ग-रूप देश-काल के सम्बन्ध में शास्त्र-कारों के आदेशों का उल्लङ्घन करते हैं। शास्त्रकारों ने स्पष्ट विधान किया है किसूर्योदय से दो घण्टे पूर्व उठ कर शौच स्नान आदि आवश्यक कृत्यों से निवृत्त होकर सूर्योदय से पूर्व एकान्त स्थान में सन्ध्या करें[1], और सूर्योदय काल में अग्निहोत्र करें।

सन्ध्या करने से पूर्व मन को इस कार्य की ओर झुकाने के लिये कर्मकाण्डीय जन निम्न कार्य करते चले आते हैं —

१. नियतकाल पर सन्ध्या करना।

२. सन्ध्या का स्थान नियत होना।

३. सन्ध्या के आसन वा वस्त्र नियत रखना। जहां तक वस्त्रों का सम्बन्ध है, स्नान के पीछे प्रतिदिन धुली हुई पूरी धोती या लम्बा (आधी) धोती के उपभोग से भी कार्य चल सकता है।

इन तीनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, परन्तु साम्प्रतिक जीवन में स्थान की इतनी कमी होती है कि सन्ध्या-अग्निहोत्र के लिए पृथक् स्थान नियत रखना साधारण जन के लिए कठिन है। काल के नियतीकरण में भी साम्प्रतिक जीवनचर्या में अति कठिनाई है। पुनरपि यदि प्रातःकाल शीघ्र उठने का हम अभ्यास डालें, तो कुछ सीमा तक इसका समाधान हो सकता है।

सन्ध्या-कर्म में मन लगने में नियत समय का सब से अधिक प्रभाव पड़ता है, यह हमारा अपना अनुभव है। कुछ समय तक नियत काल में सन्ध्या का अनुष्ठान करने पर सन्ध्या के लिए नियत समय समीप में आते ही मन स्वयं उस कार्य की ओर प्रवृत्त हो जाता है। इससे मन की एकाग्रता में बड़ी सहायता मिलती है। हमारा स्वानुभव के आधार पर सन्ध्या में मन न लगने की शिकायत करने

---

१. तस्माद् ब्राह्मणोऽहोरात्रस्य संयोगे सन्ध्यामुपास्ते स ज्योतिष्याज्ज्योतिषो दर्शनात् सोऽस्याः कालः सा सन्ध्या। षड्विंश ब्रा० प्रपा० ४। खं० ५।३॥

वालों से साग्रह अनुरोध है कि वे कम से कम तीन मास तक नियत काल में सन्ध्या करने का अभ्यास डाल कर देखें, उन्हें स्वयं इस बात की सत्यता प्रतीत हो जायेगी।

जिन व्यक्तियों को परिस्थितिवश उठने के साथ ही व्यावहारिक कार्यों में लगना पड़ता है, उनके लिए हमारा सुझाव है कि उठकर बिस्तर पर बैठकर ही १०-१५ मिनट प्रातःकालीन मन्त्रों के पाठ के पश्चात् गायत्री मन्त्र का जप करें और उसके पीछे अन्य कर्मों में प्रवृत्त हों। इससे भी सन्ध्या का प्रयोजन बहुत सीमा तक सिद्ध हो सकता है।

अनेक व्यक्ति उठकर शौच की प्रतीक्षा में घण्टा आध घण्टा काल नष्ट कर देते हैं। उठने के साथ ही उन्हें शौच हो जावे इसके लिए उन्हें उठकर पाव डेढ़ पाव पानी पीकर १० मिनट बिस्तर पर बांई ओर लेटना चाहिए या रहना चाहिए। उसके पीछे शौच का वेग प्रतीत हो या न हो शौचालय में चले जाना चाहिए, वहां एक डेढ़ मिनट प्रतीक्षा करके उठ जाना चाहिए। इस प्रकार प्रयत्न करने पर २-३ मास में ही ऐसी आदत पड़ जायेगी कि उठने के साथ ही शौच स्वयं आने लगेगा, और उनका इस कष्ट से सदा के लिए छुटकारा हो जायेगा। जहां इससे समय की बचत होगी, वहां कोष्ठबद्धता (कब्जी) से भी छुटकारा मिल जाने से स्वास्थ्य भी ठीक रहेगा।

आशा है यह नित्य-कर्म-विधि संग्रह जनसाधारण की ज्ञान-वृद्धि में सहायक होगा, और इस कार्य के लिए दान देनेवाली माता श्रीमती प्रेमदेवी जी दरगन का लक्ष्य पूरा होगा। ओम् शम्।

—युधिष्ठिर मीमांसक

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ

१—उपोद्घात — १-२०

पंच महायज्ञ १-४; ब्रह्मयज्ञ-सन्ध्योपासना ५; विधि में भेद ६; पद्धति-भेद के दो कारण ७-१०; अग्निहोत्र १०-११; एक काल में दोनों आहुतियों का क्रम १२-१३; दैनिक यज्ञ में प्रायश्चित्ताहुति १३; साप्ताहिक यज्ञ १४; सामान्य प्रकरण पठित मन्त्रों के तीन समूह १४-१५; आचमन-अंगस्पर्श विधि १५-१६; स्विष्टकृदाहुति का स्थान १७-१८; ओम् का उच्चारण १९-२०।

२—दोनों समयों के विशिष्ट नैत्यिक कर्म — २१-२७

जागरण-वेला में पठनीय मन्त्र २१-२४; स्नान के समय पठनीय मन्त्र २४-२७।

३—सन्ध्योपासन-विधि — २८-५९

(क) शरीर-शुद्धि-प्रकरण—शिखा-बन्धन २९; आचमन-मन्त्र २९; अंग-स्पर्श-मन्त्र ३१; मार्जन-मन्त्र ३२; प्राणायाम-मन्त्र ३५; सन्ध्या के प्रथम भाग का पारस्परिक सम्बन्ध ३५-३६।
(ख) मनः-शुद्धि प्रकरण—अघमर्षण-मन्त्र ३६; आचमन-मन्त्र ३९। (ग) मनसा परिक्रमा प्रकरण—मनसा परिक्रमा मन्त्र ४०-४८।
(घ) उपस्थान प्रकरण—उपस्थान-मन्त्र ४९-५३; संस्कार-विधिस्थ अधिक मन्त्र ५४।
(ङ) प्रार्थना-प्रकरण—प्रार्थना-मन्त्र ५५-५७; समर्पण-विधि ५७-५८; नमस्कार-मन्त्र ५८-५९।

विषय	पृष्ठ
४—ईश्वर-स्तुति-प्रार्थनोपासना-मन्त्र	६०-६५
५—(क) दैनिक-अग्निहोत्र-विधि	६६-९६
अग्निहोत्र का हव्य द्रव्य ६६-६८; आचमन-मन्त्र ६८-६९; अङ्गस्पर्श-मन्त्र ६९-७१; अग्नि-ज्वालन-मन्त्र ७२; अग्निस्थापन-मन्त्र ७२; अग्नि-समिन्धन-मन्त्र ७४; समिधाधान-मन्त्र ७५-८०; पञ्च-घृताहुति-मन्त्र ८०; जल-सिंचन-मन्त्र ८१-८३; आघारावाज्यभागाहुति मन्त्र ८४-८६; प्रातःकालीन आहुतियों के मन्त्र ८७; सायंकालीन आहुतियों के मन्त्र ८८; दोनों काल के मन्त्र ९०-९३; पूर्णाहुति-मन्त्र ९४; विशेष वक्तव्य ९५-९६।	
(ख) दैनिक स्वाध्याय	९६-९८
६—बृहद्यज्ञ-विधि	९९-१८२
साप्ताहिक अधिवेशन में यज्ञ का क्रम ९९-१०१; स्वस्तिवाचन १०१-१३५; शान्तिकरण १३६-१६४; व्याहृत्याहुति-मन्त्र १६५-१६६; द्वादश आज्याहुति-मन्त्र १६६-१७९; गायत्री-मन्त्र से आहुति १७९; स्विष्टकृदाहुति-मन्त्र १८०-१८१; प्राजापत्याहुति-मन्त्र १८१-१८२; पूर्णाहुति १८२।	
७—दर्श-पूर्णमासेष्टि-विधि	१८३-१८५
८—पितृयज्ञ-विधि	१८६-१८७
९—बलिवैश्वदेवयज्ञ-विधि	१८७-१९१
१०—अतिथियज्ञ-विधि	१९१
११—कुछ अन्य कृत्यों के मन्त्र	१९२-१९७
१२—प्रभु-भक्ति के कतिपय पद्य तथा भजन	१९७

ओ३म्

वैदिक-नित्यकर्म-विधि

उपोद्घात

इस ग्रन्थ में वैदिकधर्मावलम्बियों के प्रातः उठने से लेकर सायं सोने तक क्रियमाण नित्यकर्मों का विधान किया है। नित्य-कर्मों के सभी मन्त्रों का सरल अर्थ भी दिया है, क्योंकि अर्थज्ञान के विना मन्त्र-पाठ मात्र से अभीष्ट फल की सिद्धि नहीं होती। अर्थज्ञान पूर्वक कार्य करने से ही उस-उस कर्म की वास्तविक भावना के अनुरूप फल की प्राप्ति सुगम होती है और मन की एकाग्रता भी होती है। इन नैत्यिक कर्मों में पांच कर्मों का प्राधान्य है। भगवान् मनु ने लिखा है—

पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्। मनु० ३।७०॥

ये पांच महायज्ञ हैं—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ (=अग्निहोत्र), पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ।

आयुर्वेद एवं धर्मशास्त्र के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को ब्राह्म-मुहूर्त में (=सूर्योदय से डेढ़ दो घण्टा पूर्व) अवश्य उठना चाहिये। उससे आरोग्य एवं मनःशान्ति की प्राप्ति होती है। उठकर सबसे पूर्व प्रभु की प्रार्थना करनी चाहिये, जिस से वर्तमान दिन सुख-समृद्धि एवं शान्ति से पूर्ण व्यतीत हो। तदनन्तर शौच-दन्तधावन-स्नान आदि से निवृत्त होकर सन्ध्योपासना एवं दैनिक अग्निहोत्र करना चाहिये। तत्पश्चात् पितृयज्ञ=माता पिता व परिवार के

ज्येष्ठ पुरुषों का अभिवादन आदि से यथोचित आदर सत्कार एवं उनके खान-पान आदि की व्यवस्था करनी चाहिये।

मध्याह्न में पाकशाला में भोजन सिद्ध होने पर पहले बलि-वैश्वदेवयज्ञ करना चाहिये। इस कर्म के दो भाग हैं, एक—क्षारलवण रहित पके हुए पदार्थ से चूल्हे की अग्नि में दस आहुतियां देनी होती हैं[1], और दूसरा—दीन-दुखियों के लिये, अपने लिये बनाये भोजन में से कुछ पदार्थ निकाल कर उन्हें देना चाहिये।[2] तत्पश्चात् अतिथियज्ञ= गृह पर आये हुए सत्पुरुषों को भोजन कराकर गृहस्थ को भोजन करना चाहिये। वेद का उपदेश है कि जो गृहस्थ अपने परिवार के लिये सिद्ध भोज्य-पदार्थों से पशु-पक्षियों, दीनदुःखियों एवं अतिथियों की क्षुधा को शान्त नहीं करता, वह स्वार्थी एवं पाप-भोजी है। उस के लिये प्रभु द्वारा प्रदत्त भोग व्यर्थ हैं—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

ऋक् १०।११७।६॥

अर्थात्—वह अज्ञानी व्यर्थ में भोग्य पदार्थों को प्राप्त करता है जो न दीन-दुःखियों की और न मित्रों की सहायता करता है, स्वयं अकेला प्रभु द्वारा प्रदत्त भोगों को भोगता है वह पापी होता है, वह भोग उसका नाश का कारण बनता है, यह मैं सत्य उपदेश करता हूं।

---

१. आजकल कई समाजों एवं गृहों में दैनिक अग्निहोत्र के पीछे उसी अग्नि में यज्ञशेष अथवा मिष्ट पदार्थ की आहुतियां दी जाती हैं, यह न केवल शास्त्रविरुद्ध है, अपितु बलिवैश्वदेव यज्ञ की भावना से भी असम्बद्ध है।

२. अनेक पुराने परिवारों में भोजन से पूर्व 'गो-ग्रास' निकालने की परिपाटी इसी कर्म का रूपान्तर है।

मन्त्र के इसी भाव को भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता (३।१३) में इस प्रकार व्यक्त किया है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

अर्थात्—जो पुरुष यज्ञ से (दीन-दुखियों में बांट कर) बचे हुए भोगों को भोगता है, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है और जो केवल अपने लिये भोजन पकाता है=अकेला भोगों को भोगता है, वह पाप का भक्षण करता है अर्थात् पापी होता है।

बालक वृद्ध रोगी एवं गर्भिणी स्त्री को सब से प्रथम भोजन कराना चाहिये, पीछे दम्पती को भोजन करना चाहिये। यदि किसी कारणवश पुरुष को शीघ्र भोजन करना पड़ जाये, तो पत्नी का यह कर्त्तव्य है कि वह परिवार के बाल वृद्ध युवा एवं भृत्यवर्ग (नौकरों) को पहले भोजन कराकर स्वयं सब से अन्त में भोजन करे। वैदिक मन्तव्य के अनुसार भृत्यों को भी पहले भोजन कराना चाहिये। इस से भृत्यवर्ग सदा सन्तुष्ट रहते हैं। महाभारत वनपर्व अ० २३३ में श्रीकृष्ण की पत्नी सत्यभामा और महारानी द्रौपदी का जो संवाद मिलता है, उसमें द्रौपदी कहती है—

न संविशामि नाश्नामि सदा कर्मकरेष्वपि ॥ श्लोक २३ ॥

अर्थात् मैं पति से पूर्व न सोती हूं न भोजन करती हूं, और न कर्मकरों=भृत्यों से पूर्व सोती वा खाती हूं।[1]

इसी प्रकार सायंकाल सन्ध्योपासन, अग्निहोत्र, पितृशुश्रूषा कर के सोते समय भगवान् से पुनः शिवसंकल्प की प्रार्थना करनी चाहिये।

---

१. यह है वैदिक साम्यवाद की एक झलक। यदि गृह स्वामी वा स्वामिनी भृत्यों का इतना ध्यान रखे तो परस्पर कभी संघर्ष ही उत्पन्न न हो।

शिवसंकल्प की प्रार्थना करके शयन करने से शुद्ध विचार सुदृढ़ होते हैं, और दुःस्वप्न नहीं आते।

इन पांच महायज्ञों का विधान प्रत्येक गृहस्थ के लिये किया गया है। वानप्रस्थ के लिए पितृयज्ञ[1] को छोड़कर शेष चार यज्ञों का विधान है। ब्रह्मचारी के लिए सन्ध्योपासन एवं अग्निहोत्र दो ही यज्ञ कर्तव्य हैं। उसका अग्निहोत्र भी गुरु की अग्नि में तीन समिधाओं के आधानमात्र से पूर्ण हो जाता है, क्योंकि ब्रह्मचारी अकिंचन (धन-रहित) होता है, वह घृतादि सामग्री नहीं जुटा सकता। संन्यासी के लिए इन में से कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता, वह सर्वदा निस्संग एवं ब्रह्मनिष्ठ होता है। वैदिक-मर्यादा के अनुसार संन्यास का अधिकार केवल ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण को ही है। ब्रह्मनिष्ठ की स्थिति **'शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन् वा'** वचन के अनुसार सोते जागते चलते फिरते सदा ब्रह्म में ही होती है।

यद्यपि ये पांच यज्ञ काल एवं व्यय की दृष्टि से साधारण हैं, पुनरपि इनके नित्यप्रति कर्त्तव्य होने से इन्हें मनुस्मृति (३।७१) में महायज्ञ के नाम से स्मरण किया गया है।

इन पञ्च महायज्ञों का फल आत्मिक उन्नति है[2]। इसलिए जो इन कर्मों को दिखावे के लिए लोकवंचना के लिए करता है उसे कोई फल प्राप्त नहीं होता[3], इसके विपरीत वह अधोगति को प्राप्त होता है। इसलिए इन कर्मों को सदा एकान्त में, दिखावे से दूर रहकर केवल आत्मकल्याण के लिए ही करना चाहिए।

---

१. वन में रहने के कारण वह पितरों=ज्येष्ठ श्रेष्ठ सम्बन्धियों से दूर हो जाता है।

२. महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः। मनु २।१८॥

३. वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥ मनु २।९७॥

ब्रह्मयज्ञ–सन्ध्योपासना

पञ्च महायज्ञों में प्रथम ब्रह्मयज्ञ है। ब्रह्मयज्ञ के दो भाग हैं—सन्ध्योपासना और स्वाध्याय=वेदादि सच्छास्त्रों का अध्ययन। इन में सन्ध्योपासना प्रथम करनी चाहिए और स्वाध्याय अग्निहोत्र के पश्चात्।

सन्ध्योपासनाविषयक अनेक ग्रन्थ—ऋषि दयानन्द सन्ध्योपासना को अत्यन्त महत्त्व देते थे[1]। उन्होंने अपने जीवन में सबसे प्रथम 'सन्ध्योपासना-विधि' की पुस्तक वि० सं० १९२० में प्रकाशित की थी (वह हमें उपलब्ध नहीं हुई)। तदनन्तर उनके नाम से छपे 'सन्ध्योपासनाविधि' के दो संस्करण हमारे संग्रह में सुरक्षित हैं। ये तीन संस्करण उस समय के हैं, जब ऋषि दयानन्द निस्संग अवधूत अवस्था में विचरण करते थे। वि० सं० १९३१ से वे वैदिक धर्म के प्रचार एवं पाखण्ड-मतों के खण्डन में विशेष रूप मे प्रवृत्त हुए और ग्रन्थ-लेखन कार्य प्रारम्भ किया। उसके पश्चात् उन्होंने सब से प्रथम 'पञ्चमहायज्ञ-विधि' का वि० सं० १९३२ में बम्बई में प्रकाशन किया। इस में मन्त्रार्थ केवल संस्कृत भाषा में दिया गया था। संस्कृत में होने के कारण जनसाधारण को लाभ कम होता है, यह विचार कर उन्होंने उसमें कुछ परिशोधन करके भाषार्थ-सहित वि० सं० १९३४ में पुनः प्रकाशित किया। आजकल आर्यसमाज में यही संस्करण प्रामाणिक माना जाता

---

१. ऋषि दयानन्द ने पूना के १४वें प्रवचन में लिखा है—"इस (सन्ध्या) के विषय में एक सन्ध्योपनिषद् है, इस पुस्तक में विशेष व्याख्या की गई है" पूना प्रवचन पृष्ठ १४३ (रा ला. क. ट्र. संस्क.)। इस पुस्तक की उपलब्धि के लिये प्रयत्न होना चाहिये।

है[२]। इसके पश्चात् वि० सं० १९४० में परिशोधित 'संस्कारविधि' में पञ्च महायज्ञों का विस्तार से वर्णन किया है।

विधि में भेद—इन सब ग्रन्थों में सन्ध्योपासनविधि में कुछ कुछ भेद उपलब्ध होता है। ऋषि दयानन्द द्वारा अन्तिम रूप से परिष्कृत 'पञ्चमहायज्ञविधि' एवं 'संस्कार-विधि' में निर्दिष्ट पद्धति में भी कुछ भेद है। 'सत्यार्थ-प्रकाश' समु० ३ में निर्दिष्ट पद्धति में भी क्रमभेद मिलता है। आर्यसमाज के विद्वानों में भी इस भेद को लेकर मतभेद देखा जाता है। कतिपय विद्वान् 'संस्कार-विधि' की पद्धति को प्रामाणिक मानते हैं, तो कतिपय 'पञ्चमहायज्ञविधि' की पद्धति को। 'सत्यार्थ-प्रकाश' की पद्धति के क्रमभेद पर किसी ने ध्यान ही नहीं दिया।

भेद होते हुए भी अभेद—सभी पद्धतियों में भेद होने पर भी उपासना की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। कर्म तीनों ग्रन्थों में समान है, केवल अघमर्षण कर्म, उपस्थान के मन्त्रों में क्रम भेद एवं एक मन्त्र का आधिक्य मात्र है। जहां कर्म समान होता है और पद्धतियों में भेद होता है, वहां मीमासकों का मत है कि **पद्धतियों में भेद होने पर भी कर्मभेद नहीं जानना चाहिए।** भगवान् जैमिनि ने इस विषय पर मीमांसा अ० २ पाद ४ सूत्र ८-३२ तक विस्तार से विचार किया है। यह प्रकरण शास्त्र में **सर्वशाखाप्रत्यैककर्मता अधिकरण** नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त में प्रधान हेतु यह हैं कि कर्म और विधि में कर्म की प्रधानता है, विधि की नहीं। ऋषि दयानन्द ने

---

२. ऋषि दयानन्द के द्वारा १९३४ में परिशोधित संस्करण प्रकाशित कर दिये जाने पर भी १९३२ का संस्करण उनकी दृष्टि में अप्रामाणिक नहीं था, क्योंकि १९३२ वाले 'पञ्चमहायज्ञविधि' के संस्करण का विज्ञापन ऋषि की पुस्तकों पर अन्य पुस्तकों के साथ सं० १९३९ तक बराबर छपता रहा।

भी 'पञ्चमहायज्ञविधि' के आरम्भ में 'परमेश्वर के ध्यान आदि करने में किसी प्रकार का आलस्य न आवे इसलिए शिर और नेत्र आदि पर जलप्रक्षेप (=मार्जन कर्म) करे, यदि आलस्य न हो तो न करें' लिखकर विधि की अपेक्षा सन्ध्योपासनारूप कर्म की ही प्रधानता दर्शाई है।

हमने इस पुस्तक में पञ्चमहायज्ञविध्यन्तर्गत पद्धति का ही अनुसरण किया है, क्योंकि आर्यसमाज में सर्वत्र यही पद्धति प्रधानरूप से प्रचलित है।

आर्यों में पद्धति-भेद—आर्यों में 'पञ्चमहायज्ञविधि'-निर्दिष्ट पद्धति का आश्रयण करने पर भी यत्र तत्र मतभेद उपलब्ध होता है। यह मतभेद दो विषयों में है—एक आचमन से पूर्व प्राणायाम एवं गायत्री मन्त्र के पाठ के साथ शिखा बन्धन, और दूसरा अघमर्षण कर्म के पश्चात् गायत्री मन्त्र का पाठ एवं उसके अर्थ का विचार। इस मतभेद के दो कारण हैं—एक ऋषि की ग्रन्थलेखन शैली से परिचित न होना, और दूसरा अघमर्षण मन्त्रों के अर्थ के पश्चात् लिखे गये अंश के भाव को न समझना।

प्रथम कारण—ऋषि दयानन्द ने आचमन मन्त्र से पूर्व अपनी भाषा में मार्जन, प्राणायाम और गायत्री मन्त्र से शिखा-बन्धन का विधान किया है। ऋषि दयानन्द की ग्रन्थलेखन शैली यह है कि वे प्रथम विस्तार से विधीयमान विधि का संक्षेप से निर्देश कर देते हैं, और तत्पश्चात् उसका विस्तार से विधान करते हैं। यह शैली समास-व्यास लेखनशैली के नाम से विद्वानों में प्रसिद्ध है। ऋषि दयानन्द रचित 'संस्कारविधि' में भी सर्वत्र यही शैली आदृत है। 'संस्कार-विधि' में जहां से विधि का आरम्भ होता है, वहां प्रायः यह लेख मिलता है—"आरम्भ में पृष्ठ ७—४६ में लिखित विधि कर

के........"[१] (इन पृष्ठों में सामान्यप्रकरण की समस्त विधि आ जाती है)। तत्पश्चात् ऋषि इन्हीं पृष्ठ ७—४६ तक की विधियों का नाम निर्देश पूर्वक विस्तार से विधान करते हैं। यहां पर करके शब्द का स्पष्ट उल्लेख होने पर भी उनका यह अभिप्राय नहीं है कि पृष्ठ ७—४६ तक की विधियां दो बार की जायें। इसी प्रकार 'पञ्चमहायज्ञविधि' में भी जानना चाहिये। तदनुसार आचमन मन्त्र से पूर्व मार्जन, प्राणायाम एवं गायत्री मन्त्र से शिखा-बन्धन के विधान करने में उनका तात्पर्य नहीं है। प्राचीन महर्षि, लोग शास्त्र-प्रतिपादित विषय को भले प्रकार से जान जावें, इसलिये वे समास-व्यास दोनों शैलियों का उपयोग करते थे।[२] महाभाष्यकार पतञ्जलि ने स्पष्ट लिखा है—**'ते वै खल्वपि विधयः सुगृहीता भवन्ति येषां लक्षणं प्रपञ्चश्च'**[३] अर्थात् वे विधियाँ अच्छे प्रकार से समझी जा सकती हैं, जिनका संक्षेप और विस्तार दोनों रूप से वर्णन किया किया गया हो। ऋषि दयानन्द ने भी 'सन्ध्योपासना-विधि' के लेखन में इसी समासव्यास-शैली का आश्रयण लिया है। उनका तात्पर्य इनकी द्विरावृत्ति से नहीं है।

अन्य विचार—यद्यपि ऋषियों की लेखनशैली एवं उनके अनुयायी ऋषि दयानन्द की लेखनशैली के अनुसार हमने ऋषि के लेख की संगति दर्शाने का प्रयत्न किया है, तथापि 'संस्कार-विधि' में सन्ध्योपासन-विधि से पूर्व (पृष्ठ २६१) आचमन, अङ्गस्पर्श, और

---

१. द्रष्टव्य सं० वि० पृष्ठ १०२, ९०, ७३ आदि। ऊपर तथा टिप्पणी में दी गई पृष्ठ संख्या रा. ला. क. ट्रस्ट के द्वारा प्रकाशित द्वि० सं० की है।

२. विस्तीर्यैतन्महज्ज्ञानमृषिः संक्षिप्य चाब्रवीत्।
इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम्॥
महाभारत आदिपर्व १।५१॥

३. महाभाष्य ६।३।१४॥

प्राणायाम का जो निर्देश उपलब्ध होता है, उसमें आचमन के मन्त्रों का भेद होने से यह भी सम्भावना होती है कि ऋषि को 'शन्नो देवी०' आचमनमन्त्र से पूर्व इन कर्मों का विधान भी इष्ट हो। अस्तु, हमने दोनों पक्ष उपस्थित कर दिये, विद्वज्जनों को इस पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये।

द्वितीय कारण—अघमर्षण मन्त्र के पश्चात् 'गायत्री आदि मन्त्रों का अर्थविचार पूर्वक चिन्तन करने' का जो विधान मिलता है, और उसके अनुसार बहुत से आर्य जन गायत्री का जो पाठ करते हैं, वह हमारी दृष्टि में अप्रासङ्गिक है। उक्त निर्देश पर विचार करने से पूर्व इस लेख की पृष्ठ-भूमि पर ध्यान देने से पता चलता है कि 'पञ्चमहायज्ञविधि' के संशोधित संस्करण में पूर्व पाठ का संशोधन करके पाठ को जो नया रूप प्रदान किया गया, वह कुछ अस्पष्ट सा है। इस 'पञ्चमहायज्ञविधि' से पूर्व सं० १९३२ में ऋषि ने जो 'पञ्चमहायज्ञविधि' बम्बई में छपवाई थी, उसमें परिक्रमा के मन्त्र भिन्न थे, शेष मन्त्र और उनका संस्कृत-भाष्य वही हैं, जो संशोधित संस्करण में है। १९३२ वाले संस्करण में अघमर्षण के पश्चात् और परिक्रमा मन्त्रों से पूर्व निम्न पाठ था—

"अनेनाघमर्षणं कुर्यात्। शन्नो देवीति पुनराचामेत्। ततः सूर्योदयात् प्राक् तिष्ठन् सन् अर्थविचारपूर्विकां गायत्रीं जपेत्। पुनः सूर्योदये सति परमेश्वरेणैव सूर्यादिकं सकलं जगद् रचितमिति परमार्थ-स्वरूपं ब्रह्म चिन्तयित्वा गायत्रीमन्त्रेणार्घ्यत्रयं सूर्याभिमुखं प्रक्षिप्य परं ब्रह्म प्रार्थयेत्॥ अथ परिक्रमा मन्त्राः॥"

इस पाठ से दो बातें स्पष्ट हैं—सं० १९३२ तक ऋषि दयानन्द मनसापरिक्रमा के स्थान पर सूर्य को अभिलक्ष्य करके अर्घ्य देना और परिक्रमा करना मानते थे। उस अवस्था में यदि अघमर्षण पर्यन्त क्रिया सूर्योदय से पूर्व समाप्त हो जाती है, तो अर्घ्यप्रदान

परिक्रमा एवम् उपस्थान के लिए कुछ काल रुकना आवश्यक था। उस मध्यकाल में उपासक व्युत्थानचित्त न हो जाये, इसलिये उन्होंने सूर्योदय-पर्यन्त गायत्रीमन्त्र के जप का विधान किया था।

संशोधित संस्करण में सूर्य को लक्षित कर अर्घ्यप्रदान का अंश पृथक् कर दिया, और परिक्रमा को भी मनसा परिक्रमा का रूप दे दिया। अतः इस संस्करण के अनुसार जब मनसापरिक्रमा से पूर्व सूर्योदय तक ठहरने की अपेक्षा ही समाप्त हो गई, तब यहां गायत्री का जप भी अनावश्यक हो गया। गायत्रीमन्त्र अपने स्थान पर आगे विहित ही है।

यदि किसी को इस लेख से सन्तोष न हो तो उसे ततो **'गायत्र्यादिमन्त्रार्थान् मनसा विचारयेत्'** में गायत्री के साथ निर्दिष्ट 'आदि' पद पर ध्यान देना चाहिये। गायत्री-पाठ का यहां विधान मानने से आदि पद से अन्य मन्त्र भी उपस्थित हो जायेंगे, अन्यथा आदि पद को व्यर्थ मानना पड़ेगा। अतः इस पक्ति और अगली पंक्ति को मिलाकर विचार करना चाहिये। हमारा विचार है कि यहां भी मनसापरिक्रमा से लेकर गायत्री-पर्यन्त क्रियमाण उपासना का संक्षेप से निर्देश किया है। आदि पद संस्कृत में प्रकार अर्थ में भी आता है।[1] इसलिये इसका अर्थ है—गायत्री-सदृश वे मन्त्र जिनमें सूर्यादि जगद् रचना का निर्देश है, (उपस्थान के मन्त्र इसी प्रकार के हैं) उन से परब्रह्म की उपासना करे। 'संस्कारविधि' में गायत्र्यादि मन्त्रार्थ विचार का उल्लेख न होने से भी यही विचार दृढ़ होता है। जो व्यक्ति हमारी इस शास्त्रपद्धत्यनुकूल विवेचना से सहमत न हों, वे स्वतन्त्र हैं। शास्त्रकारों का तो निर्णय है—**'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ'** (गीता १६।२४) अर्थात् कार्य और अकार्य की

---

१. आदि प्रकारे वर्तते। तद्यथा—देवदत्तादय आढ्या अभिरूपा दर्शनीयाः पक्षवन्तः। देवदत्तप्रकारा इति गम्यते। महाभाष्य १।३।१॥

व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण हैं। **'शब्दप्रमाणका वयं, यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्'** (महाभाष्य) अर्थात् हम शब्द को प्रमाण मानने वाले हैं, इसलिए जो शब्द (आर्ष-ग्रन्थ) कहते हैं, वही हमारे लिये प्रमाण है। ऋषि दयानन्द का भी यही मन्तव्य है। वे भी प्रत्येक विषय में आर्षशास्त्रों को ही प्रमाण मानकर चलते हैं। अतः हमें भी आर्षशास्त्रानुसार तत्त्व का निश्चय करना चाहिये।

अग्निहोत्र

ऋषि दयानन्द ने दैनिक कर्त्तव्य के रूप में जिस अग्निहोत्र विधि का निरूपण किया है, उस के विषय में हमें कुछ नहीं कहना है क्योंकि ऋषि दयानन्द निर्दिष्ट विधि एवं आदेश सायप्रातः दोनों काल विषयक हैं। परन्तु आजकल जो व्यक्ति दोनों काल अग्निहोत्र न करके एक काल में ही अग्निहोत्र करते हैं, वे प्रातः कालीन **सूर्यो ज्योति०** आदि चार मन्त्रों के पश्चात् **भूरग्नये प्राणाय स्वाहा** आदि आठ मन्त्र बोलकर पुनः सायंकाल के मन्त्र बोलते हैं, और पुनः **भूरग्नये०** आदि मन्त्रों से आठ आहुतियाँ देते हैं।

इसका कारण ऋषि दयानन्द द्वारा परिशोधित 'सत्यार्थप्रकाश' में सोलह आहुतियों का विधान करना है। परन्तु 'सत्यार्थप्रकाश' के उक्त प्रकरण से यह स्पष्ट नहीं होता कि एक काल में सोलह आहुतियां करनी चाहियें, अथवा दोनों कालों की मिलाकर सोलह आहुतियां (सायंप्रातः का अग्निहोत्र मिलकर एक कर्म माना जाता है)। 'सत्यार्थप्रकाश' में सायंप्रातः की विशिष्ट आहुतियों के मन्त्रों का निर्देश नहीं है[1], केवल **भूरग्नये०** आदि चार मन्त्रों का ही निर्देश

१. स० प्र० प्रथम सं० में 'भूरग्नये' आदि ४ तथा पांचवीं पूर्णाहुति का ही निर्देश है। वहां १६ आहुतियों का निर्देश नहीं है।

है। विश्वानि देव० और गायत्री मन्त्र से आहुति का जो विधान किया है, वह ऐच्छिक है। उनकी सोलह में गणना नहीं हो सकती। वि० सं० १९३२ की 'पञ्चमहायज्ञविधि' में भूरग्नये० से लेकर आपो ज्योती० तक पांच मन्त्रों का ही निर्देश है। उसमें भी सायं प्रातः की विशिष्ट आहुतियों का उल्लेख नहीं है। 'सत्यार्थप्रकाश' से पूर्व परिष्कृत एवं प्रकाशित 'पञ्चमहायज्ञविधि' में दोनों समय के ४-४ विशिष्ट मन्त्र भूरग्नये० आदि ४ मन्त्र और आपो ज्योती० एवं सर्वं वै० पूर्णाहुति मन्त्र का उल्लेख है। अतः यदि कम से कम १६ आहुतियों का निर्देश एक काल में मानें तो 'सत्यार्थप्रकाश' अथवा उससे पूर्व प्रकाशित ग्रन्थों से इस विषय में कोई प्रकाश नहीं पड़ता कि किन १६ मन्त्रों से १६ आहुतियां देवें। यदि दोनों काल की मिलाकर न्यूनातिन्यून १६ आहुतियों से अभिप्राय समझा जाये, तो पञ्चमहायज्ञ-विधिनिर्दिष्ट प्रातः—सूर्यो ज्योति आदि ४, भूरग्नये० आदि ४=८, इसी प्रकार सायंकाल को अग्निर्ज्योति० आदि ४, भूरग्नये आदि ४=८। इस प्रकार १६ आहुतियां बन जाती हैं। अन्य मार्ग हमारी समझ में नहीं आता। अनेक व्याख्याता १६ आहुतियों की संख्या 'संस्कार-विधि' में निर्दिष्ट आहुतियों को मिलाकर पूर्ण करते हैं, परन्तु जिस समय 'सत्यार्थप्रकाश' लिखा गया था, उस समय 'संस्कार-विधि' का परिशोधित संस्करण था ही नहीं, उसकी रचना तो इस अंश के छप जाने के भी ५-६ मास पश्चात् आरम्भ हुई।

एक काल में दोनों काल की आहुतियों का क्रम

प्रश्न—जो व्यक्ति दोनों कालों में अग्निहोत्र नहीं कर सकते वे एक ही समय में किस क्रम से आहुतियां प्रदान करें?

उत्तर—हमारा विचार है कि जहां भी मतभेद हो वहाँ हमें उन प्राचीन शास्त्रों से प्रकाश प्राप्त करना चाहिये, जिनमें उन कर्मों का विधान हो। प्राचीन ऋषि मुनियों ने इस प्रकार की समस्याओं

पर विचार करके निर्णय किया है कि जहां एक काल में अनेक प्रधान कर्म किए जायें तो उनसे सम्बद्ध गौण कर्मों की प्रतिप्रधान आवृत्ति न करके गौण कर्मों को एक बार ही करना चाहिये। इसे याज्ञिकों की परिभाषा में **पदार्थानुसमय** कहा जाता है (द्र० कात्या० श्रौत १।५।१०)।

ऋषि दयानन्द भी इसी पक्ष को स्वीकार करते हैं। उन्होंने वेदारम्भ संस्कार में लिखा है—**जो उपनयन किये पश्चात् उसी दिन वेदारम्भ करे, उसको पुनः वेदारम्भ में ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना [स्वस्तिवाचन] और शान्तिकरण करना आवश्यक नहीं।** (सं. वि० पृष्ठ १२३ टि०)।

अतः शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार दोनों काल में समान रूप से विनियुक्त **भूरग्नये०** आदि मन्त्रों की आवृत्ति करना अनावश्यक है। क्रमशः प्रातः सायं की विशिष्ट आहुतियां देकर **भूरग्नये०** आदि मन्त्रों से आहुतियां देनी चाहियें।

इसी प्रकार १६ आहुतियों की पूर्ति के लिये आर्य सज्जन अनेक कल्पनायें करते हैं। हमारे विचार में वे सब व्यर्थ हैं। क्योंकि एक काल में १६ आहुतियां होनी चाहियें, इस विषय में ऋषि का कोई स्पष्ट आदेश नहीं, यह हम पूर्व विस्तार से लिख चुके हैं। अतः हमारे विचार में संस्कार-विधि में जितने मन्त्र अग्निहोत्र प्रकरण में लिखे हैं, वे पर्याप्त हैं। यदि कोई अधिक आहुतियां देना चाहे तो ऋषि के आदेशानुसार गायत्री मन्त्र से देवें।

दैनिक यज्ञ में प्रायश्चित्ताहुति

दैनिक अग्निहोत्र में प्रायश्चित्ताहुति अपरनाम स्विष्टकृद् आहुति आवश्यक नहीं है। याज्ञिक सम्प्रदाय के अनुसार काम्य कर्मों में ही प्रायश्चित्ताहुति का विधान है। नित्य कर्म में कोई प्रायश्चित्ता-

हुति देना चाहे तो दे सकता है, परन्तु उसे पूर्णाहुति से पूर्व देना चाहिए।

साप्ताहिक यज्ञ – साप्ताहिक सत्संग में किये जाने वाले यज्ञ की विधि ऋषि दयानन्द ने नहीं लिखी। पाक्षिक यज्ञ का तो संस्कार-विधि पृष्ठ २७३ में निर्देश किया है। उसमें ईश्वरस्तुति-प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, अग्न्याधान से आघारावाज्य-भागाहुति पर्यन्त कर्मों का निर्देश है। सामान्य-प्रकरण के भूरग्नये स्वाहा से लेकर अन्त तक पठित मन्त्रों का कोई संकेत नहीं है। इसलिये हमारा मत यही है कि ऋषि के द्वारा प्रदर्शित पाक्षिक यज्ञ वाली विधि ही हमें साप्ताहिक सत्संगों में करनी चाहिये। भूरग्नये स्वाहा से लेकर भवतन्नः० पर्यन्त मन्त्रों से आहुतियां नहीं देनी चाहियें। यदि देनी ही हों तो दैनिक अग्निहोत्र के मन्त्रों के पश्चात् अधिक आहुतियां देने में इनका विनियोग करना चाहिये। ऋषि दयानन्द ने इन मंत्रों का संकलन, अगले संस्कारों में बार बार पाठ न करना पड़े, इसलिये सामान्य-प्रकरण में कर दिया है। इन मंत्रसमूहों में क्रम भी विवक्षित नहीं है। जहां जिस संस्कार में इन मंत्रों में से जितने मन्त्र जिस क्रम से आवश्यक होते हैं, उनका यथास्थान निर्देश कर दिया जाता है।

सामान्यप्रकरण-पठित मन्त्रों के ३ समूह

सामान्यप्रकरण में पठित मंत्रों के तीन समूह हैं। एक—स्तुतिप्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन एवं शान्तिकरण के मन्त्रों का। दूसरा—अग्न्याधान से लेकर आघारावाज्यभागाहुति पर्यन्त, और तीसरा—व्याहृति आहुतियों से अन्त पर्यन्त।

दैनिक अग्निहोत्र में इन तीनों समूहों में से किसी समूह के मन्त्रों का संबन्ध नहीं है, क्योंकि प्राचीन ऋषियों के मतानुसार प्रत्येक गृहस्थ को विवाह समय में आवसथ्याग्नि का स्थापना करनी

चाहिये।[1] ऋषि दयानन्द ने भी इस विधि को स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, 'सम्कार-विधि' पृष्ठ २१६ पर **'विवाहाग्नि को प्रकट** (=प्रज्वलित)करके......' ऐसा निर्देश करके विवाहाग्नि=आवसथ्याग्नि को गृह पर साथ लाने एवं उसे आजन्म सुरक्षित रखने का संकेत किया है। अतः जिस गृह में आवसथ्याग्नि सदा विद्यमान रहती है, उन्हें प्रतिदिन अग्न्याधान की आवश्यकता ही नहीं होती। यतः आजकल हमारे घरों में आवसथ्याग्नि नहीं रहती, अतः हमें प्रतिदिन अग्न्याधान करना पड़ता है।

यद्यपि अग्न्याधान से पूर्व **ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण** का दैनिक अग्निहोत्र से कोई सम्बन्ध नहीं, पुनरपि यदि समय हो तो सन्ध्योपासना के पश्चात् ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना के मन्त्रों का पाठ एवं मनन उपयोगी है।

आचमन-अङ्गस्पर्श-विधि—'संस्कारविधि' में आचमन एवं अङ्गस्पर्श का विधान शान्तिकरण के पश्चात् किया है, परन्तु प्राचीन याज्ञिक परिपाटी के अनुसार आचमन एवं अङ्गस्पर्श ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना के मन्त्रों से पूर्व करना चाहिये। **'आचान्तेन कर्म कर्तव्यम्'** यह यज्ञकर्म का सामान्य नियम है। ऋषि दयानन्द ने भी 'सन्ध्योपासनाविधि' में इन कर्मों का आरम्भ में विधान किया है। 'संस्कार-विधि' के गृहस्थ प्रकरण में दैनिक अग्निहोत्र (जिसमें अग्न्याधान नहीं करना है) से पूर्व **शन्नो देवी॰** मन्त्र से आचमन का विधान है, वह भी इसी प्राचीन पद्धति के अनुसार है।

सामान्यप्रकरण निर्दिष्ट विधियों में क्रम विवक्षित नहीं है, विधि-निर्देश की प्रधानता है। शास्त्रकार जहाँ सामान्य विधियों

---

१. आवसथ्याधानं दारकाले (पार॰ १।२।१), संस्कारविधि पृष्ठ १५२ पर उद्धृत।

का विना विशेषक्रम की विवक्षा के संग्रह करते हैं, वहां क्रम-निर्धारण के लिये श्रौतसूत्रों एवं मीमांसा दर्शन में अनेक नियम दिये गये हैं। उनमें एक है—'पाठक्रमाद् अर्थक्रमो बलीयान्'। कात्यायन श्रौतसूत्र १।५।५ का एक सूत्र है—विरोधेऽर्थस्तत्परत्वात्। अर्थात् पाठक्रम और अर्थ=प्रयोजन से प्राप्त क्रम में विरोध हो, तो अर्थ-क्रम बलवान् होता है, न कि पाठक्रम। पदार्थों का पाठ तो प्रयोजन की सिद्धि के लिये है, अतः प्रयोजन की अपेक्षा पाठ गौण होता है। उदाहरण के लिये हम 'संस्कार-विधि' का ही एक स्थल उपस्थित करते हैं। सीमन्तोन्नयन संस्कार में व्याहृति आहुति के अनन्तर और धाता दधातु० आदि मन्त्रों से दीयमान ८ आहुतियों से पूर्व (पृष्ठ ७३ पर) लिखा है—

"आठ आहुति पृष्ठ३८—४०तक लिखे प्रमाणे करके—

ओं प्रजापतये त्वा जुष्टं निर्वपामि।

अर्थात् चावल, तिल, मूंग इन तीनों का समभाग ले के—

ओं प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि।

अर्थात् धो के इनकी खिचड़ी बना, उसमें पुष्कल घी डाल के·······।"

इस सन्दर्भ की भाषा से स्पष्ट विदित होता है कि खिचड़ी बनाने की पूरी विधि यज्ञ के मध्य में विहित है। उद्धृत प्रथम वाक्य में करके पद भी प्रत्यक्ष पठित है, फिर भी क्या कोई सचेता व्यक्ति यह स्वीकार करेगा कि खिचड़ी यज्ञ के मध्य में पकाई जाये ? और यज्ञार्थ आये व्यक्ति घण्टा भर निठल्ले बैठे रहें ?

अतः आचमन और अङ्गस्पर्श क्रिया का विधान शान्तिकरण के पश्चात् होने पर भी उसे प्रारम्भ में करने में ऋषि दयानन्द की विधि के साथ कोई विरोध नहीं है।

स्विष्टकृदाहुति का स्थान—आर्य समाज में स्विष्टकृद् आहुति संस्कार-विधि में जहां पढ़ी है, वहीं देनें की परिपाटी चल रही है, परन्तु यह शास्त्र एवं मन्त्रार्थ के विपरीत है। स्विष्टकृदाहुति का ही दूसरा नाम 'प्रायश्चित्ताहुति है। उस का स्थान पूर्णाहुति से पूर्व है। मन्त्रार्थ से भी यही ध्वनित होता है, क्योंकि उसमें भूल से अधिक या न्यून किये गये कर्म को सु+इष्ट=पूर्ण करने की प्रार्थना है। जब कर्म के अन्त में इस का स्थान होगा, तभी तो न्यूनाधिक कर्म को स्विष्ट करने की प्रार्थना की जा सकती है, मध्य में यह प्रार्थना कैसे सम्भव है ?

शास्त्रीय पद्धति एवं ऋषि की शैली से अनभिज्ञ कहते हैं कि ऋषि ने स्विष्टकृद् आहुति से पूर्व **'ये घी की चार आहुति देकर'** ऐसा लिखा है, यहां 'कर' (सं० क्त्वा-प्रत्यय) अंश यह बताता है कि स्विष्टकृद् आहुति व्याहृति आहुति के पश्चात् ही देनी चाहिये। हमारा यहां भी यही कहना है कि अर्थ-क्रम एवं मन्त्रार्थ बल से इस आहुति का स्थान अन्त में ही है। अभी हमने सीमन्तोन्नयन का जो पाठ उद्धृत किया है, उसमें भी **करके** पाठ है, परन्तु उसके होने पर भी खिचड़ी यज्ञ के मध्य में पकानी इष्ट नहीं है। आगे खिचड़ी की आहुति का निर्देश होने से उस के पाक का निर्देश भी यहीं कर दिया।

हम ऐसा ही कालविधायक एक और उदाहरण देते हैं। ऋषि ने यजुर्वेद भाष्य के आरम्भ में लिखा है—**ऋग्वेदस्य विधाय वै**। इस में **विधाय** शब्द का प्रयोग होने से इसका यही अर्थ प्रकट होगा कि 'ऋग्वेद का पूरा भाष्य करके यजुर्वेद के भाष्य का आरम्भ करता हूं, परन्तु यह शब्दार्थ अशुद्ध है। दोनों भाष्यों के आरम्भ करने की जो तिथियां (ऋग्वेद—सं० १९३४ मार्ग शु० ६ भौमवार; यजुर्वेद—सं० १९३४ पौष शु० १३ गुरुवार) दी हैं, उनके अनुसार ऋग्वेद का भाष्य आरम्भ करने के ३७ दिन पश्चात् यजुर्वेद के भाष्य का

आरम्भ किया गया। क्या ३७ दिन में सम्पूर्ण ऋग्वेद का भाष्य सम्भव है? अत: विधाय का तात्पर्य आरम्भ मात्र में है न कि पूर्व क्रिया की समाप्ति में। अत: देकर करके ऐसे सामान्य शब्दों के आधार पर प्रयोजन एवं मन्त्रार्थ विरुद्ध किसी कर्म का काल या स्थान मानना अनुचित है।

कुछ अल्पपठित व्यक्ति यह आक्षेप करते हैं कि यदि आचमन अंगस्पर्श का स्थान आरम्भ में और स्विष्टकृदाहुति का स्थान अन्त में है, तो ऋषि दयानन्द ने यथार्थ स्थान पर इनका निर्देश क्यों नहीं किया, मध्य में क्यों किया? क्या ऋषि दयानन्द याज्ञिक प्रक्रिया से अनभिज्ञ थे?

इस विषय में हमारा उत्तर इतना ही है कि ऋषि दयानन्द याज्ञिक पद्धति से अनभिज्ञ नहीं थे, उन्होंने तो आर्ष शैली से ही स्वग्रन्थ का लेखन किया है। अनभिज्ञ हैं तो हम हैं। हम अपनी अनभिज्ञता तो स्वीकार नहीं करते, उलटे ऋषि की यथार्थ विधि को पलटते हैं।

ऋषि दयानन्द ने संस्कारविधि को इतना क्रमबद्ध नहीं लिखा (यदि लिखते तो ग्रन्थ दूना हो जाता) कि कोई भी याज्ञिक प्रक्रिया से अनभिज्ञ व्यक्ति उससे यथावत् विधि करा सके। ऋषि दयानन्द के मतानुसार यज्ञकर्म में पुरोहित आचार्य ब्रह्मा ऋत्विक् आवश्यक हैं। ऋषि के निर्देशानुसार (द्र० सं० वि० पृष्ठ ८० पुरोहित लक्षण) ये सब वेदवित् यज्ञकर्म-कुशल व्यक्ति होने चाहियें। ऐसे व्यक्ति स्वयं याज्ञिक पद्धत्यनुसार कर्म करा सकते हैं। यह तो आर्यसमाजियों एवं आर्यसमाजों की अदूरदर्शिता है कि वे पुरोहित ऐसे व्यक्तियों को बनाते हैं जिन्हें कर्मकाण्ड की पद्धतियों का ज्ञान होना तो दूर रहा, ऋषि के ग्रन्थों का भी पूरा ज्ञान नहीं होता।

ओम् का उच्चारण

ओम् का उच्चारण सन्ध्या एवं प्रार्थना आदि के समस्त मन्त्रों के आरम्भ में करने की परिपाटी आर्य समाज में चल रही है, परन्तु यह शास्त्र के विपरीत है। शास्त्रपद्धत्यनुसार एक कर्म के लिए जितने मन्त्र निर्दिष्ट हों उन मन्त्रों के आरम्भ में एक बार ही ओम् का निर्देश करना चाहिये, न कि प्रत्येक मन्त्र के आरम्भ में। जहां प्रति मन्त्र कर्म भेद होता है, वहां प्रति मन्त्र से पूर्व ओम् का उच्चारण क्रिया जाता है। ऋषि दयानन्द कृत 'पञ्चमहायज्ञविधि' में भी इसी पद्धति का अनुसरण मिलता है। इन्द्रियस्पर्श एवं मार्जन के प्रति मन्त्रों से भिन्न भिन्न कर्म होता है, अतः वहां प्रति मन्त्र ओं का निर्देश किया है, परन्तु अघमर्षण और उपस्थान के मन्त्रों में प्रथम मन्त्र के साथ ही ओम् का निर्देश किया है (मनसा परिक्रमा के मन्त्रों के आरम्भ में ओम् का निर्देश लेखक अथवा मुद्रक प्रमाद से छूट गया प्रतीत होता है), 'संस्कारविधि' में भी ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना में विनियुक्त मन्त्रों में प्रथम मन्त्र के आरम्भ में ही ओम् का उल्लेख है। अतः एक कर्म के लिए विनियुक्त मन्त्रों में एक ही बार ओम् का उच्चारण करना चाहिए।

आज कल अनेक अनधिगत-शास्त्र विद्वन्मन्य लोग यज्ञ में जिन मन्त्रों के अन्त में 'स्वाहा' लगाकर आहुतियां देनी होती हैं, उनके अन्त में स्वाहा से पूर्व ओम् का निर्देश करते हैं। जैसे—

ओम् विश्वानि देव सविर्दुरितानि परासुव।
यद् भद्रं तन्न आसुवों स्वाहा ॥

कई लोग ओंकार के साथ यथोचित सन्धि भी नहीं करते।

इस प्रकार यज्ञ में स्वाहा से पूर्व ओंकार का निर्देश करना कर्मकाण्डीय पद्धति के विपरीत है। पाणिनि का **प्रणवष्टेः** (८।२।८८)

सूत्र मन्त्र के 'टि'[१] भाग के स्थान में प्रणवादेश का विधायक नहीं है, अपितु याज्ञिक ग्रन्थों द्वारा विहित कार्य का स्मारक है। इस कारण श्रौतसूत्रादि ग्रन्थों के अनुसार जहां मन्त्र के टि भाग को 'ओम्' आदेश का विधान किया है, वहीं टि भाग को ओंकारादेश करना चाहिए।

याज्ञिक पद्धत्यनुसार (द्र० शांखायन श्रौत सूत्र अ० १ खं० १) जिन मन्त्रों का यज्ञ में गणशः पाठ होता है वहां मन्त्र के टि भाग को प्रणव आदेश होता है। यथा सामिधेनी मन्त्रों में।

इस नियम के अनुसार यदि यज्ञ कर्म में मन्त्रों के अन्त में ओंकार का निर्देश करना इष्ट हो, तो स्वस्तिवाचन शान्तिकरण के मन्त्रों के टि भाग को प्रणवादेश किया जा सकता है। जैसे—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमो३म् स नः पितेव......

स्वाहान्त मन्त्र में पुनः स्वाहा का प्रयोग

अनेक याज्ञिक जिन मन्त्रों के अन्त में 'स्वाहा' पद पठित है, उन के अन्त में पुनः 'स्वाहा' पद का प्रयोग करते हैं, यह भी विधि के विपरीत है। ऋषि दयानन्द ने स्वाहापद से युक्त 'यां मेधां' मन्त्र को अग्निहोत्र में पढ़ा है, परन्तु उसके साथ पुनः स्वाहा पद का प्रयोग नहीं किया। इसी प्रकार स्वाहा पद घटित सूर्यो ज्योतिः०, अग्निर्ज्योतिः० आदि मन्त्रों में भी पुनः स्वाहा पद का प्रयोग नहीं किया। अतः वेद में जिन मन्त्रों के अन्त में स्वाहा पठित है, उनसे आहुति देनी हो तो पुनः 'स्वाहा' पद का प्रयोग (स्वाहा स्वाहा) नहीं करना चाहिये।

इतने उपोद्घात के पश्चात् अब हम क्रम से दैनिक कर्मों की विधियों का निर्देश एवं मन्त्रों की व्याख्या करेंगे।

---

१. अन्त्य स्वर या अन्त्य व्यञ्जन और उससे पूर्ववर्ती अन्त्य स्वर समुदाय की टि संज्ञा होती है—अचोऽन्त्यादि टि (अष्टा० १।१।६३)।

वैदिक-नित्यकर्म-विधि

इस पुस्तक में आर्यों के नित्य के कर्त्तव्य कर्मों का विधान एवं उन के मन्त्रों का अर्थ लिखा जायेगा। वैदिक मन्तव्य के अनुसार प्रातःकाल से लेकर शयन काल पर्यन्त जो विशिष्ट नैत्यिक कर्म करने होते है, वे निम्नलिखित हैं—

प्रातःकाल—

१—शयन से उठकर ईश्वर की स्तुति प्रार्थना
२—शौच दन्तधावन व्यायाम
३—स्नान
४—सन्ध्योपासना
५—अग्निहोत्र
६—स्वाध्याय
७—पितृ-यज्ञ
८—बलिवैश्वदेव-यज्ञ
९—अतिथि-यज्ञ

इसी प्रकार सायंकाल—

१—अग्निहोत्र
२—सन्ध्योपासना
३—पितृ-यज्ञ
४—बलिवैश्वदेव-यज्ञ
५—अतिथि-यज्ञ
६—शयन से पूर्व शिव-संकल्प की प्रार्थना

इन में द्वितीय कर्म शौच-दन्तधावन-व्यायाम अमन्त्रक होता है। स्नान के लिए यद्यपि ऋषि दयानन्द ने किन्हीं मन्त्रों का विनियोग नहीं किया, पुनरपि हम स्नान कर्म के अनुरूप उन मन्त्रों का निर्देश कर रहे हैं, जिन में जल में निहित आरोग्यकारक गुणों का निर्देश है। सब से प्रथम हम प्रातः जागरण वेला के मन्त्र लिखते हैं—

जागरण-वेला में पठनीय मन्त्र

ओ३म् प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम ॥१॥

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद् यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद् यं भगं भक्षीत्याह ॥२॥

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥३॥

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् ।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥४॥

भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुरएता भवेह ॥५॥

ऋक् ७।४१।१--५ ॥

१—हम प्रतिदिन (प्रातः) प्रभात वेला में (अग्निम्) प्रकाश-स्वरूप, (इन्द्रम्) परमैश्वर्ययुक्त, (मित्रावरुणा) सब के मित्र और वरणीय=सबसे श्रेष्ठ (अश्विना) सर्वत्र व्यापक परम प्रभु और उसकी महती शक्ति की (हवामहे) स्तुति करते हैं। (प्रातः) प्रातः काल की शान्त वेला में (भगम्) सबके भजनीय सेवनीय, (पूषणम्) सब जगत् का पोषण करनेहारे, (ब्रह्मणस्पतिम्) महान् लोक-लोकान्तरों के पालन करनेहारे (सोमम्) सब के प्रेरक वा उत्पादक और (रुद्रम्) दुष्टों को दण्ड देने हारे प्रभु की (हुवेम) स्तुति प्रार्थना करते हैं।

२—(प्रातः) ब्राह्म मुहूर्त में (जितम्)जयशील, (भगम्) ऐश्वर्य के दाता, (उग्रम्) तेजस्वी, (अदितेः) समस्त ब्रह्माण्ड[1] के (पुत्रम्) पवित्र[2] करने हारे, (यः) जो (विधर्त्ता) विविध प्रकार से धारण करने हारा प्रभु है, उसकी (वयम्) हम लोग (हुवेम) स्तुति करते हैं। (यम् चित्) जिस को (आध्रः) सब ओर से धारण करने हारा, (मन्यमानः) जानने हारा, (तुरःचित्) दुष्टों को दण्ड देने हारा, (राजा) प्रकाश-स्वरूप सब का स्वामी जानते हैं, और (यं चित्) जिस (भगम्) भजनीय स्वरूप प्रभु का (भक्षि) मैं सेवन करता हूं, स्तुति करता हूं, उसी का (आह) मैं उपदेश भी करता हूं।

३—हे (भग) भजनीयस्वरूप प्रभो! आप सब के (प्रणेतः) उत्पादक, सत्य-व्यवहार में प्रेरक, (सत्यराधः) सत्य=अविनाशी धन मोक्षरूप ऐश्वर्य के देने हारे हो। आप (नः) हमारी (इमाम्) इस (धियम्) प्रज्ञा=बुद्धि को (ददत्) दीजिये, और उस बुद्धि के दान से (उदव) हमारी रक्षा कीजिये। हे (भग) परम ऐश्वर्य-स्वरूप प्रभो! (नः) हमारे लिए (गोभिः) गाय आदि दुधारू पशुओं और (अश्वैः) शीघ्र पहुंचने वाले घोड़े आदि वाहनरूप पशुओं के द्वारा उत्तम राज्यश्री को (प्रजनय) प्रकट कीजिये= दीजिये; हे (भग) भजनीय प्रभो! आप की कृपा से हम लोग (नृभिः) उत्तम पुरुषों के सम्बन्ध से (नृवन्तः) श्रेष्ठ एवं वीर पुरुषों वाले (प्र स्याम) होवें।

४—हे भगवन्! हम (इदानीम्) इस प्रभातवेला में (भगवन्तः) सभी प्रकार के ऐश्वर्य सुख-शान्ति से युक्त (स्याम) होवें, (उत) और (अह्नाम्) दिनों की (प्रपित्वे) प्राप्ति में अर्थात् पूर्वाह्न में, (उत)

१- अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥
ऋ० १।८९।१०॥

२. 'पूञ् पवने' से 'त्र' प्रत्ययः (उणादि ४।१६५)।

और दिनों के (मध्ये) मध्य में ऐश्वर्य से युक्त होवें। (उत) और हे (मघवन्) असंख्य धनों के देनेहारे प्रभो! (सूर्यस्य) सूर्य के (उदिता) उदय काल में हम लोग (देवानाम्) देवों=श्रेष्ठ पुरुषों की (सुमतौ) कल्याणकारिणी बुद्धि में (स्याम) वर्तमान रहें। जिस से हमारा सारा दिन शुभ कल्याण युक्त बीते।

५--हे (भगः) समस्त ऐश्वर्य के स्वामिन्! (भगवान्) आप सब प्रकार के कल्याण के देनेहारे हो, हे (देवाः) हे विद्वानो! (वयम्) हम उस ऐश्वर्यवान् प्रभु की कृपा से (भगवन्तः) ऐश्वर्य युक्त एवं दाता (स्याम) होवें। हे (भग) भजनीय सेवनीय प्रभो! (तं त्वा) उस आप की (सर्वः इत्) सभी लोग (जोहवीति) स्तुति करते हैं, प्रार्थना करते हैं। हे (भग) सकल ऐश्वर्य-सम्पन्न प्रभो! (सः) वह आप (नः) हमारे (इह) इस लोक में (पुरएताः) अग्र-गामी, नेता, सन्मार्ग पर चलानेहारे (भव) हूजिये।

स्नान के समय पठनीय मन्त्र

प्रातःकाल अथवा ग्रीष्म ऋतु में सायंकाल स्नान करते समय निम्न मन्त्रों का पाठ करना चाहिए, और मन्त्रार्थ-विचार पूर्वक प्रभु द्वारा उत्पन्न किए जलों के द्वारा आरोग्य-लाभ की कामना=भावना करनी चाहिए। वे मन्त्र ये हैं—

ओ३म् आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन।
महे रणाय चक्षसे ॥१॥

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः।
उशतीरिव मातरः ॥२॥

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।
आपो जनयथा च नः ॥३॥

ईशाना वार्य्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम् ।
अपो याचामि भेषजम् ॥४॥

ओं शं नो देवीरभिष्टयऽआपो भवन्तु पीतये
शं योरभि स्रवन्तु नः ॥

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।
अग्निं च विश्वशंभुवम् ॥६॥

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३ मम ।
ज्योक् च सूर्य्यं दृशे ॥७॥

शं न आपो धन्वन्या३ः शमु सन्त्वनूप्याः ।
शं नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ आभृताः
शिवा नः सन्तु वार्षिकीः ॥८॥ अथर्व काण्ड १। सूक्त ५,६॥

इन मन्त्रों में जल में विद्यमान आरोग्य प्रदान करने वाले गुणों का निर्देश किया है। इन का भाव इस प्रकार है—

१. (आपः) जल[1] (हि) निश्चय से (मयोभुवः) सुखकारक (स्थ)

---

१. ऋषि दयानन्द के मतानुसार जड़ पदार्थों का सम्बोधन के रूप में व्याख्यान इष्ट नहीं है, क्योंकि जड़ पदार्थों में सम्बोधन का मख्य प्रयोजन 'अपनी ओर ध्यान आकृष्ट करना' उपपन्न नहीं होता। अतः हमने जलों का सम्बोधन रूप से निर्देश नहीं किया है।

हैं, इस लिए (ताः) वे (नः ऊर्जे) हमारे बल पराक्रम के लिए तथा (महे रणाय चक्षसे) बड़ी रमणीयता के दर्शन के लिए हमें (दधातन) स्वस्थता प्रदान करते हैं।

२—(यः) जो (वः) इन जलों में (शिवतमः रसः) अत्यन्त कल्याणकारी रस=तत्त्व=गुण है, वह (नः इह भाजयत) हमारे लिए यहां (स्नान काल में) प्राप्त होवे, (उशतीः मातर इव) जैसे वत्स की कामना करनेहारी माताएं वत्स को प्राप्त होती हैं।

३—जल (यस्य) जिस शरीर इन्द्रिय आदि के (क्षयाय) निवास के लिए (जिन्वथ) तृप्ति कारक होते हैं (तस्मै) उस के लिए (वः अरं गमामः) उन जलों को पूर्णतया प्राप्त होते हैं, अर्थात् उन जलों से पूरा लाभ उठाते हैं। वे जल (नः) हमें (जनयथ) बढ़ावें, समर्थ करें, स्वस्थ रखें।

४—(वार्याणाम्) इच्छा करने योग्य सुखों के (ईशानाः) स्वामी और (चर्षणीनाम्) प्राणिमात्र के (क्षयन्तीः) निवास के हेतु जो जल हैं, उन (अपः) जलों से (भेषजं याचामि) स्वस्थता की कामना करता हूं।

५—(देवीः आपः) दिव्य गुण वाले जल (नः शम्) हमारे लिए कल्याणकारक होवें, (अभीष्टये) इष्ट सुख शान्ति की प्राप्ति के लिए और (पीतये) पीने के लिए होवें, और उन के सदुपयोग से (नः) हम पर (शं योः) कल्याणकारक सर्व दुःख निवारक सुख की (अभिस्रवन्तु) वर्षा होवें।

६—(मे) मुझे (सोमः) ओषधियों के स्वामी[1]=चिकित्सक ने कहा है बताया है कि (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर (विश्वानि भेषजा) सब ओषधियां=नीरोगकारक तत्त्व हैं, और (अग्निं च विश्वशम्भुवम्) सबका कल्याण करने वाला अग्नि भी उसमें है।

१. सोम ओषधीनामधिपतिः। पार० गृह्य १।५।१०॥

७—(आपः) जल (भेषजं पृणीत) स्वस्थता को उत्पन्न करते हैं, (मम तन्वे) मेरे शरीर में (वरूथम्) वरणीय सौन्दर्य को प्राप्त कराते हैं, और (ज्योक् च सूर्यं दृशे) चिरकाल तक सूर्य के दर्शन के लिए शरीर को सुदृढ़ बनाते हैं।

८—(नः) हमारे लिए (धन्वन्याः आपः) मरुदेश का जल[1] (शम्) कल्याण कारक होवे, (अनूप्याः) जलपूर्ण देश का जल (शम्) सुखकारक होवे, (खनित्रिमाः) खोदे गये कुएं आदि का जल (नः) हमारे लिए (शम्) सुखकारक होवे, जो (कुम्भे आभृताः) घड़े में भर कर रखा है वह जल (शम्) सुखदायक होवे और (वार्षिकीः) वर्षा का जल (नः शिवाः सन्तु) हमारे लिए सुखकारी होवे।

---

१. यह कुएं के जल से भिन्न समझना चाहिये, क्योंकि कुएं के जल का निर्देश आगे किया है। यहां सम्भवतः छप्पड़ गड्ढे में एकत्रित जल अभिप्रेत हो। मरु प्रदेश में ऐसा जल पीने के काम में लिया जाता है। यह सब से अधिक रोगकारक होता है। इसलिये मन्त्र में इस का सब से प्रथम निर्देश किया है।

सन्ध्योपासन-विधि

शरीर-शुद्धि नाम प्रथम प्रकरण

सन्ध्योपासना आरम्भ करने से पूर्व उसकी तैयारी के लिए निम्न कार्य करने चाहियें—

१. आचमन (विना मन्त्र के)

२. अङ्गस्पर्श ,, ,, ,,

३. प्राणायाम ,, ,, ,,

४. शिखाबन्धन—तत्पश्चात् निम्न गायत्रीमन्त्र[1] का पाठ करके शिखाबन्धन करें। मन्त्र इस प्रकार है—

---

१. 'गायत्री' शब्द के दो अर्थ हैं। एक गायन्तं त्रायते=गान=जप करने वाले की जो रक्षा करे, गयान् प्राणान् त्रायते (ब्रा० शत० १४।८।१५।७) अर्थात् जो प्राणों की रक्षा करे। अथवा गायतेः स्तुतिकर्मणः (निरु० ७।१२) अर्थात् स्तुत्यर्थक 'गा' (गै) धातु से औणादिक 'शत्र' प्रत्यय, उससे स्त्रीलिंग में ङीप् प्रत्यय होकर गायत्री शब्द बनता है। यह शब्द योगरूढ है अर्थात् अपने मूल अर्थ को प्रकट करता हुआ मन्त्र-विशेष के लिये नियत है। दूसरा गायत्री का अर्थ २४ अक्षरों का छन्द है। इस अर्थ को लेकर वेद के वे सभी मन्त्र जिन में २२-२३-२४-२५-२६ अक्षर हैं, 'गायत्री' कहाते हैं। इस प्रकार 'तत्सवितु—प्रचोदयात् मन्त्र छन्द और अर्थ दोनों रूप से गायत्रीसंज्ञक है। परन्तु इस मन्त्र के जप के समय शास्त्रकारों ने भूः भुवः स्वः इन महाव्याहृतियों का प्रयोग करना विशेष लाभदायक माना है। इन महाव्याहृतियों का योग हो जाने पर मन्त्र में २३+४=२७ अक्षर हो जाते हैं। उस

ओ३म्[1] भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

य० अ० ३६ मं० ३॥ ऋ० मण्डल ३ । सू० ६३ । मं० १० ॥

इस मन्त्र का अर्थ आगे सन्ध्या में यथास्थान किया जायेगा वहां देखें ।

विशेष—जो महानुभाव 'पञ्चमहायज्ञविधि' में इन क्रियाओं का उल्लेख सन्ध्या की भावी क्रियाओं के संक्षेपीकरण रूप में मानते हैं, वे यदि इन्हें न करें तब भी विधि-विपर्यास नहीं समझना चाहिए ।

आचमन-मन्त्र

विनियोग—निम्न मन्त्र से सर्वव्यापक प्रभु से सुख की कामना करते हुए जल से तीन आचमन करें—

ओं शं नो देवीरभिष्टयऽ आपो भवन्तु पीतये ।
शं योरभि स्रवन्तु नः ॥ यजु० ३६ । मं० १२ ॥

पदार्थ

शम्—सुखकारक	अभिष्टये—इष्ट आनन्द की प्राप्ति के लिए
नः—हमारे लिए	
देवीः—दिव्य गुण वाला	आपः—सर्वव्यापक प्रभु

अवस्था में इस का छन्द उष्णिक् हो जाता है । छन्द के रूप से गायत्री न रहने पर भी गायत्री शब्द के जो धात्वर्थ दर्शाये हैं, उन के अनुसार इस २७ अक्षरों वाले मन्त्र का भी गायत्री नाम ही होता है । गायत्री यह योगरूढ शब्द है यह हम पूर्व कह चुके हैं ।

१. मन्त्र के आरम्भ में प्रयुक्त 'ओम्' को सर्वत्र 'ओ३म्' इस प्रकार प्लुत रूप में ही उच्चारण करना चाहिये ।

भवन्तु—होवे
पीतये—पूर्ण आनन्द के भोग के लिए।
शम्—कल्याणकारक [और]
योः—दुःख को दूर करने वाले [अपने आनन्द] की
अभि—सब ओर से
स्रवन्तु—वृष्टि करे
नः—हमारे ऊपर।

भावार्थ—दिव्य गुणवाला सर्वव्यापक प्रभु इष्ट आनन्द की प्राप्ति और पूर्ण आनन्द के भोग के लिए हमारे लिए सुखकारक होवें, और कल्याणकारक सर्व दुःखनाशक अपने परमानन्द की हम पर सब ओर से वर्षा करे।

विनियोग परक अर्थ—दिव्य गुण वाले जगत् के प्राणस्वरूप जल हमारे इष्ट भोगों के लिए और पीने के लिए सुखकारक होवें, और चारों ओर से हमें सुख प्राप्त करावें।

आचमन क्रिया—हथेली में उतना ही जल लेना चाहिए जो कण्ठ से नीचे छाती तक पहुंचे, अधिक नहीं। आचमन करते हुए मुंह से किसी प्रकार का शब्द नहीं होना चाहिए।

एक मन्त्र से तीन आचमन—सामान्यतया एक मन्त्र से एक ही क्रिया की जाती है, परन्तु कहीं कहीं अनेक मन्त्रों से एक क्रिया और एक मन्त्र से अनेक क्रियायें भी सम्पन्न होती हैं। जहां क्रिया की प्रधानता होती है, वहां प्रति कर्म मन्त्र की आवृत्ति होती है[1], परन्तु जहां मन्त्र प्रधान और क्रिया गौण होती है, वहां क्रिया के लिए मन्त्र की आवृत्ति न होकर एक मन्त्र से अनेक समान क्रियायें की जाती हैं[2]। यहां 'सन्ध्योपासन-विधि' में शं नो देवी० मन्त्र द्वारा प्रभु

---

१. द्र० कात्या० श्रौत १।७।९ तथा चौखम्बा (काशी) संस्करण पृष्ठ ६२, टि० २।

२. द्र० एकद्रव्ये कर्मावृत्तौ सकृन्मन्त्रवचनं कृतत्वात्। कात्या० श्रौत १।७।८॥

से सुख की कामना=याचना प्रधान कर्म है, आचमन क्रिया गौण है। अतः यहां एक बार ही मन्त्र का उच्चारण करके तीन आचमन किए जाते हैं। आचमन क्रिया की गौणता इसी से स्पष्ट है कि ऋषि ने 'पञ्चमहायज्ञविधि' में जल के अभाव में आचमन-अङ्गस्पर्श आदि क्रिया के न करने का निर्देश किया है।

अङ्गस्पर्श-मन्त्र

विनियोग—निम्न मन्त्रों से बाईं हथेली में जल लेकर दाहिने हाथ की मध्यमा अनामिका अङ्गुलियों से जल द्वारा इन्द्रियों का स्पर्श करते हुए इन्द्रियों की स्वस्थता एवं दृढ़ता के लिए ईश्वर से प्रार्थना करे—

ओं वाक् वाक्। इससे मुख
ओं प्राणः प्राणः। इससे नासिका[1]
ओं चक्षुः चक्षुः। इससे दोनों नेत्र
ओं श्रोत्रं श्रोत्रम्। इससे दोनों कान
ओं नाभिः। इससे नाभि
ओं हृदयम्। इससे हृदय
ओं कण्ठः। इससे कण्ठ
ओं शिरः। इससे शिर
ओं बाहुभ्यां यशोबलम्। इससे दोनों भुजायें
ओं करतलकरपृष्ठे॥ इससे दोनों हथेली तथा उनके ऊपरी भाग

---

१. जहां दो समान इन्द्रियों का स्पर्श वा मार्जन किया जाता है, वहां पहले दाहिनी इन्द्रिय का और पश्चात् वाम इन्द्रिय का करना चाहिये।

पदार्थ

वाक् वाक्=वाग् इन्द्रिय और उसकी शक्ति[1] बलवान् होवे।
प्राणः प्राणः=प्राणेन्द्रिय और उसकी शक्ति बलवान् होवे।
चक्षुः चक्षुः=चक्षु इन्द्रिय और उसकी शक्ति बलवान् होवे।
श्रोत्रं श्रोत्रम्=कर्ण इन्द्रिय और उसकी शक्ति बलवान् होवे।
नाभिः=शरीर का मूल बन्धन स्थान बलवान् होवे।
हृदयम्=हृदय=रक्त संचारक अवयव बलवान् होवे।
कण्ठः=कण्ठ आदि शब्दोच्चारण के स्थान बलवान् होवें।
शिरः=मस्तिष्क एवं सभी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के मूल स्थान बलवान् होवें।

बाहुभ्यां यशोबलम्=दोनों बाहुओं से मैं यश और बल को प्राप्त होऊं।

करतलकरपृष्ठे=हथेली और उसके ऊपरी भाग में यश और बल होवे।

भावार्थ—हमारे शरीर में जितनी प्रमुख इन्द्रियां और शरीर के अवयव हैं, वे ईश्वर की कृपा से स्वस्थ और बलवान् होवें।

मार्जन-मन्त्र

विनियोग—निम्न मन्त्रों से वाम हाथ की हथेली में जल लेके दाहिने हाथ की मध्यमा अनामिका और अंगूठे से अथवा कुशाओं से तत्तत् अङ्गों पर जल छींटते हुए ईश्वर से इन अङ्गों की पवित्रता=शुद्धि के लिए प्रार्थना करे—

---

१. प्रत्येक इन्द्रिय के दो भाग हैं—एक स्थूल जो प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है, और दूसरा उन की शक्ति रूप सूक्ष्मेन्द्रिय। इन मन्त्रों में दोनों के बलवान् होने की प्रार्थना है।

ओं भूः पुनातु शिरसि । इससे शिर पर
ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः । इससे दोनों नेत्रों पर
ओं स्वः पुनातु कण्ठे । इससे कण्ठ पर
ओं महः पुनातु हृदये । इससे हृदय पर
ओं जनः पुनातु नाभ्याम् । इससे नाभि पर
ओं तपः पुनातु पादयोः । इससे दोनों पैरों पर
ओं सत्यं पुनातु पुनश्शिरसि । इससे शिर पर
ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र ॥ इससे सब शरीर पर

पदार्थ—

भूः—प्राणवत् प्रिय प्रभु
पुनातु—शुद्धि करे
शिरसि—शिर में ।
भुवः—दुःखों को दूर करने हारा प्रभु
पुनातु—शुद्धि करे
नेत्रयोः—दोनों नेत्रों में ।
स्वः—सुखस्वरूप प्रभु
पुनातु—शुद्धि करे
कण्ठे—कण्ठ में ।
महः—सब से महान् वा पूजनीय प्रभु
पुनातु—शुद्धि करे
हृदये—हृदय में ।

जनः—सब का उत्पादक प्रभु
पुनातु—शुद्धि करे
नाभ्याम्—नाभि में ।
तपः—ज्ञानमय प्रभु
पुनातु—शुद्धि करे
पादयोः—पैरों में ।
सत्यम्—अविनाशी सत्यस्वरूप प्रभु
पुनातु—शुद्धि करे
पुनः शिरसि—फिर शिर में ।
खं ब्रह्म—आकाश के समान सर्वव्यापक प्रभु
पुनातु—शुद्धि करे
सर्वत्र—सब अङ्गप्रत्यङ्गों में ।

भावार्थ— विविध गुण-कर्म-स्वभाव वाला परमात्मा हमारे शिर आदि अङ्गों को पवित्र करे, इनमें विद्यमान दोषों को दूर करे।

विनियोग-परक अर्थ—जल से मार्जन करते हुए प्रभु से यह प्रार्थना करनी चाहिए कि मन्त्रों में निर्दिष्ट हमारे सभी शरीरावयव शुद्ध पवित्र हों। शतपथ ११।२।६।१२ में कहा है—

स ह वा आत्मयाजी यो वेदेदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियते, इदं मेऽनेनाङ्गमुपधीयत इति। स यथाऽहिस्त्वचो निर्मुच्येतैवमस्मान्मर्त्याच्छरीरात् पाप्मनो निर्मुच्यते।

अर्थात् वह आत्मयाजी है, जो यह जानता है कि इस कर्म से मेरा यह अंग संस्कृत हो रहा है, इससे मेरा यह अंग वृद्धि को प्राप्त हो रहा है। इस प्रकार जानने वाला, जैसे सर्प सुगमता से केंचुली को छोड़ देता है, उसी प्रकार विना कष्ट के इस मर्त्य शरीर को छोड़कर मुक्त हो जाता है।

इन मन्त्रों में प्रथम शिरः पद ज्ञान एवं कर्मेन्द्रियों के मूल उद्गम स्थान मस्तिष्क भाग को संकेतित करता है, और अन्तिम मन्त्र में प्रयुक्त 'शिरः' पद मस्तिष्क स्थानीय मेधा=बुद्धि के लिए प्रयुक्त हुआ है। नेत्र पद ज्ञानेन्द्रियों का उपलक्षक है। कण्ठ पद मुखमात्र का उपलक्षक होता हुआ कर्मेन्द्रियों का उपलक्षक है। हृदय पद छाती (उरः स्थान) का बोधक है। नाभि पद छाती से नीचे गुह्येन्द्रिय पर्यन्त मध्य भाग का उपलक्षक है, और पाद पद जंघा से लेकर पाद पर्यन्त भाग का। इस प्रकार शिर से पाद पर्यन्त सभी शरीरावयवों का मार्जन=शुद्धिकरण करके अन्तिम मन्त्र से शरीर से बाहर के पारिवारिक सामाजिक एवं दैशिक वातावरण की शुद्धि की कामना करनी चाहिए। आन्तरिक एवं बाह्य वातावरण का परस्पर घनिष्ठ संबन्ध है; एक के अभाव में दूसरे का शुद्धीकरण भी व्यर्थ हो जाता है।

प्राणायाम-मन्त्र

विनियोग—निम्न मन्त्रों के अर्थों की मन में भावना करते हुए कम से कम तीन प्राणायाम करें—

ओं भूः। ओं भुवः। ओं स्वः। ओं महः। ओं जनः। ओं तपः। ओं सत्यम्॥

भू आदि शब्दों का अर्थ मार्जन-मन्त्रों में देख लेवें।

भावार्थ—प्रभु के विविध नामों के अर्थ की मन में भावना करते हुए प्राणायाम करें।

प्राणायाम की सामान्यविधि—भीतर के वायु को बल से नासिका के द्वारा बाहर फेंक के यथाशक्ति बाहर ही रोकें। पुनः धीरे धीरे भीतर लेके अन्दर यथाशक्ति रोकें। पुनः बल से बाहर फेंक के रोकें।

सन्ध्या के प्रथम भाग का पारस्परिक सम्बन्ध

सन्ध्योपासना के प्रारम्भिक चार भाग आचमन, अङ्गस्पर्श, मार्जन और प्राणायाम का मुख्य प्रयोजन शरीर-शुद्धि है। **आचमन** से कण्ठस्थ कफ की निवृत्ति होती है। गले की शुद्धता से मन्त्रोच्चारण में शुद्धता एवं सरलता होती है। **अङ्गस्पर्श** के मन्त्रों से उन अङ्गों की दृढ़ता की भावना की जाती है। पौराणिक पद्धतियों के अनुसार इस कर्म को **अङ्गन्यास** के नाम से कहा जाता है। उसके अनुसार **अङ्गेषु न्यासः स्थापनं भावनम् अङ्गन्यासः**, अर्थात् वाक् प्राण आदि अङ्गों में ओंकार का न्यास=स्थापना या भावना करनी चाहिए। तदनुसार वाक् प्राण आदि अङ्गों में जो क्रियाशक्ति है, वह सब ओम् की ही है। **मार्जनमन्त्रों** से उन उन शरीराङ्गों की शुद्धि=पवित्रता सम्पादन करनी चाहिए। यह पवित्रता उन उन

अङ्गों के उचित व्यवहार से ही सम्भव है। यह अङ्गमार्जन बाह्य क्रिया द्वारा आन्तरिक भावना से किया जाता है। प्राणायाम के दो प्रयोजन हैं—एक इन्द्रियों की आन्तरिक शुद्धि, तथा दूसरा मन की एकाग्रता। भगवान् मनु ने कहा है—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥६।७१॥

अर्थात् जैसे धातुओं को अग्नि में तपाने से उनके मल दूर हो जाते हैं, वैसे ही प्राणायाम के द्वारा इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं।

इति शरीरशुद्धि नाम प्रकरण ॥

मनःशुद्धि नाम द्वितीय प्रकरण

अघमर्षण-मन्त्र

विनियोग—निम्न मन्त्रों के द्वारा प्रभु की व्यापकता शक्तिमत्ता और सृष्टि-रचना का चिन्तन करते हुए रात्रि में किये अघों=पापों=दुष्कर्मों का प्रातःकाल, एवं दिन में किये गये अघों का सायङ्काल मर्षण=दूरीकरण करना चाहिये। अघमर्षण के मन्त्र ये हैं—

ओम् ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥१॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥२॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥३॥

ऋ० मण्डल १०। सू० १९०। मं० १-३॥

पदार्थ—

ऋतम्[1]—गतिशील चेतन जगत्
सत्यम्[1]—स्थिर रहने वाला अचेतन जगत्
च=और
अभीद्धात्—अति प्रकाशित
तपसः—तप या ज्ञान से
अध्यजायत—उत्पन्न हुआ ।
ततः—जगत्=ब्राह्म दिन के पश्चात्
रात्री—प्रलयरूपी ब्राह्मी रात्रि
अजायत—उत्पन्न हुई ।
ततः—प्रलयरूपी रात्रि के पश्चात्
समुद्रः[2]—प्रकृति के मूल तत्त्वों का समूह
अर्णवः[2]—गतिशील, उत्पन्न हुआ अर्थात् गतिमान् हुआ
समुद्रात्—मूल तत्त्वसमूह से
अर्णवात्—गतिशील से
अधि—ऊपर=पश्चात्
संवत्सरः[3]—उत्पन्न होने वाले जगत् का योनि-रूप महद् अण्ड
अजायत—उत्पन्न हुआ ।
अहोरात्राणि—[इस प्रकार] ब्राह्म दिन एवं ब्राह्म रात्रि को

---

१. ऋ गतौ से क्त—ऋत=गति शील चेतन जगत् । अस्तीति सत्, सत्सु साधु सत्यम् । यहां 'ऋत' के पठित होने से 'सत्य' शब्द से 'उसका विरोधी स्थावर जगत् का ग्रहण करना चाहिये । नासदीय सूक्त (ऋ० १०।१२९) में 'सत्' से स्थूल=इन्द्रियों से ग्राह्य जगत्, और 'असत्' से सूक्ष्म=इन्द्रियों से अग्राह्य जगत् का निर्देश किया है । यहां ऋत और सत्य का यह अर्थ भी सम्भव है ।

२. परम पुरुष की ईक्षा (=सर्जन-विचार) से प्रकृति में जो प्रथम क्षोभ या गति उत्पन्न होती है, वह सर्गकालीन प्रथम स्थिति 'अर्णव-समुद्र' नाम से व्यवहृत होती है ।

३. वैदिक ग्रन्थों में सृष्ट्युत्पत्तिप्रकरण में 'संवत्सर' शब्द पारिभाषिक है । प्रकृति में गति उत्पन्न होने से प्राकृत मूल तत्त्व अण्डाकार स्थिति में आ

विदधद्—बनाया।
विश्वस्य—सब के
मिषतः—सुगमता से
वशी—वश में करने वाले प्रभु ने
सूर्याचन्द्रमसौ—[महद् अण्ड के भीतर] सूर्य=प्रकाशक चन्द्रमा=प्रकाश्य लोकों को
धाता—धारण करने वाले ने
यथापूर्वम्—पूर्व कल्प के समान
अकल्पयत्=बनाया।
दिवम्—द्यु=प्रकाशक लोकों को
च—और
पृथिवीम्—विस्तीर्ण महान् प्रकाश्य लोकों को
च=और
अन्तरिक्षम्—[मध्यवर्ती] आकाश को
अथो—अनन्तर
स्वः—गतिशील [उल्का आदि] पिण्डों को।

भावार्थ—सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् प्रभु ने गत कल्प में चेतन अचेतन समस्त जगत् को रचा था। उसके पश्चात् उसी ने अपनी महती सामर्थ्य से प्रलयकालरूपी महारात्रि को उत्पन्न किया। तत्पश्चात् उसी सहज स्वभाव से सकल जगत् को बनाने वाले प्रभु ने प्रकृति के मूल तत्त्वों में गति उत्पन्न करके संवत्सर=प्रजापति=हिरण्यगर्भ रूप महद् अण्ड को उत्पन्न किया, और उसी के भीतर

जाते हैं। इसी अण्डाकार स्थिति में क्रमशः लोक-लोकान्तरों का निर्माण होता है। इसी कारण इस महद् अण्ड को संवत्सर (सम्+वस्+सर) कहते हैं—ः भूतानामधिपतिः संवत्सरः सः (शत० ६।१।३।८)। यही अन्तिम अवस्था में हिरण्यगर्भ शब्द से व्यवहृत होता है। इस हिरण्यगर्भ का उल्लेख वेद (ऋ० १०।१२१।१०; यजुः १३।४); ब्राह्मण (शत० ११।१।६।१-२; ै० ब्रा० ३।३६०); उपनिषद् (छान्दो० ३।१९।१-२) तथा मनुस्मृति १।९) प्रभृति समस्त वैदिक वाङ्मय में मिलता है।

प्रकाशक और प्रकाश्य रूप उभयविध लोकों का निर्माण किया। तत्पश्चात् प्रत्यक्ष दृश्यमान प्रकाशक, प्रकाश्य लोकों, मध्यवर्ती आकाश एवं क्षुद्र गतिशील उल्का-पिण्डों की रचना की।

इस प्रकार ईश्वर की सर्वज्ञता सर्वव्यापकता एवं सर्वशक्तिमत्ता का ध्यान करने से उपासक को यह निश्चय हो जाता है कि मैं उस महान् प्रभु से छिपकर कभी कोई दुष्कर्म नहीं कर सकता। वह हमारे सब कर्मों को जानता वा देखता है। हम उसके कर्मफल-प्रदान रूपी न्याय मे बच नहीं सकते। इसलिए उपासक को चाहिए कि वह मन, कर्म और वचन से पाप-कर्मों को कभी न करे। इसी का नाम 'अघमर्षण' है। अघमर्षण का प्रयोजन प्रभु की सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता एवं सर्वशक्तिमत्ता का ध्यान करके ज्ञान-कर्म उभयात्मक[1] मनरूपी इन्द्रिय को शुद्ध पवित्र बनाना है, क्योंकि मन ही बन्ध और मोक्ष का प्रधान कारण है[2]।

आचमन-मन्त्र

अघमर्षण के पश्चात् शन्नो देवी० मन्त्र से तीन आचमन करने चाहियें। इस आचमन से प्राणायाम से उत्पन्न उष्णता शान्त होती है। प्रत्येक कर्म के आरम्भ में आचमन का विधान शास्त्रकारों ने किया है। इस प्रकार बाह्य एवं आन्तरिक शुद्धिरूप कर्म के पश्चात् आचमन के विधान द्वारा ऋषि दयानन्द ने पूर्व कर्म की समाप्ति दर्शाई है, एवं उत्तर कर्म के प्रारम्भ का संकेत किया है।

इति मनःशुद्धि नाम द्वितीय प्रकरण

---

१. एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्। मनु २।९२॥

२. मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। मैत्रा० आ० ६।३४।११॥

मनसा परिक्रमा नाम तृतीय प्रकरण

मनसा परिक्रमा मन्त्र

विनियोग—अत्यन्त चञ्चल एवं महापुरुषार्थी मन को निम्न मन्त्रों के अभिप्राय का ध्यान करते हुए पूर्व दक्षिण पश्चिम उत्तर नीचे और ऊपर सर्वत्र प्रभु की विभिन्न शक्तियों और कार्यों का बोध कराते हुए घुमा फिरा कर एवं थका कर उस प्रभु में स्थिर करने का प्रयत्न करना चाहिए। मनसा परिक्रमा के मन्त्र ये हैं—

ओं प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। [1]योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥१॥

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥२॥

प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥३॥

---

१. 'यो' का प्लुत उच्चारण अशुद्ध है। यहां स्वर चिह्नों से युक्त ३ संख्या स्वर विशेष की स्थिति के बोधन के लिये है, प्लुत के लिए नहीं।

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥४॥

ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥५॥

ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥६॥

अथर्व कां० ३। सू० २७। मं० १-६॥

पदार्थ—

प्राची=सामने की या पूर्व
दिक्—दिशा [का]
अग्निः—प्रकाशस्वरूप [प्रभु]
अधिपतिः—स्वामी [है]
असितः—बन्धनों से रहित
रक्षिता—रक्षा करने वाला [है]
आदित्याः[1]—अखण्डनीय=सर्वव्यापक प्रभु के नियम

१. अदितेरखण्डितस्य सर्वव्यापकस्य इमे नियमा आदित्याः। तस्येदम् (अष्टा० ४।३।१२०) इत्यर्थे ण्यः (अष्टा० ४।१।८५)।

इषवः[1]—प्राप्त होने वाले, दण्ड देने वाले [हैं]
तेभ्यः[2]—उनके लिए
नमः[2]—नमस्कार,
अधिपतिभ्यः[4]—स्वामी के लिये
नमः—नमस्कार,
रक्षितृभ्यः[3]—रक्षक के लिए
नमः—नमस्कार,
इषुभ्यः—इषुओं के लिए
नमः—नमस्कार,
एभ्यः—इन के लिए
अस्तु—होवे।

यः—जो [अधर्माचरण[4]]
अस्मान्—हमारे प्रति
द्वेष्टि—द्वेष का कारण बनता है
यम्—जिस [अधर्माचरण] के प्रति
वयम्—हम लोग
द्विष्मः—अप्रीति रखते हैं,
तम्—उस [अधर्माचरण] को
वः—तुम=आप के
जम्भे—खाने वाले=नष्ट करनेवाले स्वभाव के अधीन
दध्मः—देते=करते हैं ॥१॥

---

१. इष गतौ, यद्वा ईष गतिहिंसाऽऽदानेषु (धातु० १।४०६) इत्यस्मादुः, आदेरिच्च— ईषेः किच्च (उणा० १।१३)।

२. इन पदों का सम्बन्ध आगे के साथ है—तेभ्यः एभ्यः नमः अस्तु।

३. महत्त्व-द्योतनार्थ एक में अनेक का उपचार (व्यवहार) के नियम से बहुवचन जानना चाहिये। इसे ही आदरार्थ बहुवचन कहा जाता है।

४. सांमनस्य की शिक्षा देने वाला वेद पापी या अधर्मी व्यक्ति से द्वेष या अप्रीति रखने का उपदेश नहीं देता, वह तो उस के पाप=अधर्माचरण से द्वेष वा अप्रीति रखने का उपदेश देता है। अतः यहां द्वेष करने वाले को नष्ट करने की प्रार्थना नहीं है, अपितु द्वेष को दूर करने की प्रार्थना की गई है। यह अभिप्राय संस्कृत के तत्साहचर्य या तात्स्थ्य नियम से जानना चाहिये।

भावार्थ—हमारे सामने प्रकाश-स्वरूप, सब जगत् को प्रकाशित करनेहारा प्रभु स्वामी के रूप में विराजमान है। सब प्रकार के बन्धनों से रहित प्रभु हमारे दुःखदायक सांसरिक बन्धनों को काट कर रक्षा करने वाला है। सर्वव्यापक प्रभु के नियम इषु=सर्वत्र विराजमान दण्ड देने वाले वा पकड़ने वाले हैं। इस कारण हम उस से या उसके नियमों से बच नहीं सकते[1]। इसलिए उस प्रकाश-स्वरूप स्वामी, भवबन्धन-नाशक, रक्षक और उसके सर्वत्र व्यापक नियमों के लिए हमारा नमस्कार है। जिस द्वेष-भावना या अधर्माचरण से युक्त होकर कोई व्यक्ति हमारे साथ द्वेष=अप्रीति करता है। या जिस द्वेष-भावना से हम अन्यों के साथ द्वेष=अप्रीति रखते हैं, उस द्वेष-भावना या अधर्माचरण को हम आप के हिंसक=नष्ट करने वाले स्वभाव के अधीन करते हैं। हे प्रभो ! आप कृपा करके हम में या दूसरों में जो द्वेष-भावना या अधर्माचरण है, जिस के कारण हम अपने जीवन में दुःख पाते हैं, उसे हम से दूर करो। हम सब प्राणिमात्र परस्पर एक दूसरे के साथ प्रीति रखने वाले हों तथा एक दूसरे के रक्षक होवें ॥१॥

टिप्पणी—अगले मन्त्रों में केवल प्रथम पंक्ति में कुछ शब्द भिन्न हैं शेष मन्त्र समान हैं। इसलिए अगले मन्त्रों में भी इसी प्रकार प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए। हम अगले मन्त्रों का केवल पदार्थ मात्र देंगे।

---

१. अस्य स्पशो न निमिषन्ति भूर्णयः पदेपदे पाशिनः सन्ति सेतवः।
ऋ० ९।७३।४॥

न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति।
ऋ० १०।१०।८॥

इस प्रभु के स्पश=नियम पलक भी नहीं झपकते, पाश हाथ में लिये बांधने वाले नियम सर्वत्र विद्यमान हैं।

२. पदार्थ—

दक्षिणा—दाहिनी ओर या दक्षिण
दिक्—दिशा [का]
इन्द्रः—परम ऐश्वर्य का दाता [प्रभु]
अधिपतिः—स्वामी [है]
तिरश्चिराजिः[1]—टेढ़ी गति वाले अधर्म का
प्रकाशक=ज्ञान कराने हारा
रक्षिता—रक्षक [है]
पितरः—रक्षा करनेहारे ज्ञानी पुरुष
इषवः—[अज्ञान को] नष्ट करने वाले [हैं]
आगे पूर्ववत् ।

भावार्थ—हमारे दाहिनी ओर परम ऐश्वर्य का देने वाला प्रभु स्वामी के रूप में विराजमान है । वही टेढ़ी गति वाले कुटिलता से युक्त अधर्म का प्रकाशक=ज्ञान कराने वाला हमारा रक्षक है । दाहिनी ओर=श्रेष्ठ स्थान पर विराजमान ज्ञानवृद्ध पुरुष हमारे अज्ञान के इषु=दूर करने वाले हैं । इसलिए उस परम ऐश्वर्य दाता स्वामी, कुटिलतायुक्त अधर्माचरण से ज्ञान के प्रकाश द्वारा रक्षक, ज्ञान-वृद्ध पितर जनों के अज्ञान-नाशक ज्ञानरूप उपदेशों के लिये हमारा नमस्कार है । आगे पूर्ववत् ।।२।।

३. पदार्थ—

प्रतीची—पीछे की ओर या पश्चिम
दिक्—दिशा [का]
वरुणः[2]—सब संसार को आच्छादित करने वाला=सबसे महान्

---

१. तिरश्चि+राजृ दीप्तौ+इः । राजि—प्रकाशक—बोधक ।
२. वृञ् आवरणे+उनन् (उणादि ३।५३)

अधिपतिः—स्वामी [है]
पृदाकुः[1]—अशोभनीय शब्द बोलने वाले दीनों को अपने समीप बुलाने वाला
रक्षिता—रक्षक [है]
अन्नम्—खाने योग्य=भोग्य पदार्थ
इषवः—[क्षुधा=अभाव को] दूर करने वाले [हैं]
आगे पूर्ववत् ।

भावार्थ—हमारे पीछे की ओर सबको ढांकने वाला, सबसे महान् प्रभु हमारा स्वामी है। वही क्षुधा या अभाव से पीड़ित क्रन्दन करने (चिल्लाने) वाले प्राणियों को अपने पास बुलाकर उनकी रक्षा करने वाला है।[2] उस प्रभु के दिये[3] अन्न=भोग्य पदार्थ ही क्षुधा=अभाव के इषु=दूर करने वाले हैं। इसलिये उस सब से महान् स्वामी, अभाव से पीड़ित जनों के रक्षक, अन्न आदि भोग्य पदार्थ रूप इषुओं=अभावों को दूर करने वालों के लिये हमारा नमस्कार है। आगे पूर्ववत् ।।३।।

४. पदार्थ—

उदीची—बांई ओर की या उत्तर
दिक्—दिशा [का]
सोमः[4]—सकल जगत् का उत्पादक [प्रभु]
अधिपतिः—स्वामी [है]

---

१. पर्द कुत्सिते शब्दे=पृद्+आङ् कै शब्दे+कुः। रेफ को सम्प्रसारण और अकार का लोप (द्र० उणादि ३।८१)।

२. मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे विभजामि भोजनम्। ऋ० १०। ४८।१ ।। इसके साथ ऋ० १०।११७ के मन्त्र भी देखें।

३. तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः। यजुः ४०।१ ।। प्रभुप्रदत्त भोग्य पदार्थों से भिन्न, अन्यों को सताकर प्राप्त किये गये भोग्य पदार्थ तृष्णा=असंतोष को बढ़ाने वाले होते हैं।

४. षुञ् अभिषवे+मन्। अभिषव उत्पत्तिः।

स्वजः[1]—[विनाशक शक्तियों को][2] अच्छे प्रकार दूर करने वाला
रक्षिता—रक्षक [है]
अशनिः[3]—सर्वव्यापक शक्ति =सामर्थ्य
इषवः—दूर करने वाले [हैं]
आगे पूर्ववत् ।

भावार्थ—हमारे बांई ओर सकल जगत् का उत्पादक प्रभु हमारा स्वामी है। वही आसुरी=विनाशक शक्तियों को दूर करने हारा हमारा रक्षक है। उसका सर्वव्यापक सामर्थ्य ही आसुरी शक्तियों को दूर करने वाला हैं। इसलिये उस सकल जगत् के उत्पादक स्वामी, आसुरी शक्तियों को दूर करने वाले रक्षक और उसके सर्वव्यापक सामर्थ्य रूप इषुओं के लिये हमारा नमस्कार है। आगे पूर्ववत् ॥४॥

५. पदार्थ—

ध्रुवा—नीचे की
दिक्—दिशा [का]
विष्णुः[4]—व्यापक [प्रभु]
अधिपतिः—स्वामी [है]
कल्माषग्रीवः[5]—ज्ञान-नाशक =मोह अज्ञान को निगलने वाला=दूर करने वाला

---

१. सु+अज गतिक्षेपणयोः+अच् ।

२. पूर्वभाग में प्रभु को सोम=उत्पादक कहा है, अतः यहां उसके विरुद्ध 'विनाशक शक्तियों' का अध्याहार किया है ।

३. अशूङ् व्याप्तौ+अनिः ।

४. विष्लृ व्याप्तौ+नुः ।

५. कल संख्याने+क्विप्=कल् बुद्धिर्ज्ञानम्+मष हिंसायाम्+घञ्=कल्माष, गृ निगरणे+वः (उ० १।१५४) ।

रक्षिता—रक्षक [है]
वीरुधः[1]—विविध प्रकार से उपदेश करने वाले वेद
इषवः—[अज्ञान को दूर] करने वाले [हैं]
आगे पूर्ववत् ।

भावार्थ—नीचे की दिशा में विराजमान व्यापक प्रभु हमारा स्वामी है। वही हमारे भीतर[2] छिपे हुए ज्ञाननाशक मोह अविद्या रूपी अन्धकार को निगलने वाला=हटाने वाला हमारा रक्षक है। विविध प्रकार से ज्ञान का उपदेश करने वाले वेद या उसकी अन्तःप्रेरणायें ही इषु=अज्ञान को दूर करने वाले हैं। इसलिए उस सर्वव्यापक स्वामी, मोह अज्ञान को दूर करने वाले रक्षक, और उसके अज्ञान-नाशक वेद या अन्तःप्रेरणारूपी इषुओं के लिये हमारा नमस्कार है। आगे पूर्ववत् ॥५॥

६. पदार्थ—

ऊर्ध्वा—ऊपर की
दिक्—दिशा [का]
बृहस्पतिः[3]—महान् पालक [प्रभु]
अधिपतिः—स्वामी [है]
श्वित्रः—बढ़ने वाले दुःख-रोग-अज्ञान से त्राण करने वाला
रक्षिता—रक्षक [है]
वर्षम्—ज्ञान का वर्षण=देना
इषवः—[अज्ञान को] दूर करने वाला [है]
आगे पूर्ववत् ।

---

१. वि+रु शब्दे+क्विप्+तुक्, पृषोदरादि (अष्टा० ६।३।१०९) से उपसर्ग को दीर्घ और तकार को धकारादेश—विरुत्=वीरुध् ।

२. ध्रुवा पद अधोदिशा का बाधक होते हुए अन्तः (अन्दर) का भी उपलक्षक है ।

३. बृहच्चासौ पतिः—बृहस्पतिः । तद्बृहतोश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च । (ग० सू० ६।१।१५७) ॥

भावार्थ—ऊपर=बाहर की ओर विराजमान महान् पालक प्रभु हमारा स्वामी है। वही बाहरी संसर्ग से प्राप्त होकर बढ़ने वाले दुःख-रोग-अज्ञान से बचाने वाला हमारा रक्षक है। संसाररूपी रचना द्वारा ज्ञान का वर्षण ही अज्ञान का इषु=नाश करने वाला है। इसलिए उस महान् पालक स्वामी, बाह्यसंसर्ग से वृद्धि को प्राप्त होने वाले दुःख-रोग-अज्ञान से बचाने वाले रक्षक, और संसार-रूप विविध ज्ञान के द्वारा अज्ञान को दूर करने वाले इषुओं को हमारा नमस्कार है। **आगे पूर्ववत्** ॥६॥

विशेष—पांचवें मन्त्र में उपासक के अपने भीतर उत्पन्न होनें वाले दुःख-रोग-अज्ञान के नाश का उपाय बताया है, और छठे मन्त्र में बाह्य संसर्ग से उपासक को प्राप्त होनें वाले दुःख-रोग-अज्ञान के नाश का उपाय दर्शाया है। प्रभु का यह संसार स्वयं ज्ञान का खुला हुआ पुस्तक है, जो व्यक्ति इस संसार रूपी खुले पुस्तक को विमलमति से पढ़ता है—अनुभव करता है, वह संसार से विरक्त होकर बृहस्पति =महान् पालक प्रभु की पवित्र गोद में बैठने का अधिकारी बन जाता है।

विनियोगार्थ—इन मन्त्रों से सामने पीछे दायें बांये नीचे और ऊपर सब ओर प्रभु वा उसकी विविध शक्तियां विराजमान हैं, ऐसा अनु-भव करके अपने भीतर विद्यमान सम्पूर्ण पापों व अधर्माचरणों की जननी पिशुनता[1]=द्वेष बुद्धि को दूर करके, सर्वत्र विराजमान प्रभु के उपस्थान=गोद में विराजमान होने का अपने आप को अधिकारी बनाना चाहिये।

इति मनसा परिक्रमा प्रकरण ॥

---

१. लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः। भर्तृहरि ॥

उपस्थान-मन्त्र

विनियोग--मनसा परिक्रमा के मन्त्रों के अर्थचिन्तन द्वारा प्रभु को अपने सब ओर व्यापक जानकर नीचे लिखे मन्त्रों के अर्थविचार पूर्वक उपस्थान करे, अर्थात् अपने को सर्वरक्षक सर्वशक्तिमान् प्रकाश-स्वरूप प्रभु की पवित्र गोद में बैठा हुआ अनुभव करे—

ओम् उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥१॥

य० अ० ३५।१४॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥२॥ यजुः अ० ३३ । मन्त्र ३१ ॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥३॥ यजुः अ० ७ । मं० ४२ ॥

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥४॥

य० अ० ३६ । मं० २४॥

१. पदार्थ—

उत्—ऊपर
तमसः—अन्धकार से
वयम्—हम
परि—रहित

स्वः—प्रकाशस्वरूप [प्रभु] को
पश्यन्तः—देखते=अनुभव करते हुए
उत्तरम्—अधिक ऊपर,
देवम्—देव को
देवत्रा—देवों में
सूर्यम्—सकल जगत् उत्पादक को
अगन्म—प्राप्त होवें
ज्योतिः—प्रकाशस्वरूप को
उत्तमम्—अत्यधिक ऊपर।

भावार्थ--हम अन्धकार से रहित प्रभु को अपने सब ओर अनुभव करते हुए स्वयं अन्धकार से उत्=ऊपर उठते हैं। प्रकाशस्वरूप प्रभु को अपने चारों ओर अनुभव करते हुए अधिक ऊपर उठते हैं। सकल जगत् के उत्पादक, भौतिक देवों=सूर्यादि प्रकाशकों में देव=प्रकाश करने वाले[1] ज्योतिःस्वरूप प्रभु को[2] अपने सब ओर अनुभव करते हुए अत्यधिक ऊपर उठते हैं।

इस मन्त्र में उपासक को उपासना द्वारा क्रमशः प्राप्त होने वाली स्थितियों का निर्देश किया है। प्रथम स्थिति वह है—जब उपासक के हृदय में छिपा अविद्या-अन्धकार नष्ट हो जाता है। दूसरी स्थिति वह होती है—जब उपासक का हृदय विद्यारूपी सूर्य के प्रकाश से परिपूर्ण हो जाता है। तीसरी स्थिति वह होती है—जब उपासक उपास्य के गुणों को अपने भीतर पूर्णतया धारण करके स्वयं तद्रूप हो जाता है[3], उपास्य उपासक का भेद दूर हो जाता है। इस अन्तिम अवस्था को प्राप्त होने के पश्चात् उसके लिये कोई

---

१. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
मुण्डक उ० २।२।१०॥ श्वेता० उ० ६।१४॥

२. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। यजुः ३१।१८॥

३. उपस्थान के तृतीय चित्रं देवानां० मन्त्र में इन स्थिति वाले प्रभु-भक्तों के लिये क्रमशः मित्र वरुण अग्नि पदों का व्यवहार मिलता है।

उपास्य नहीं रहता, क्योंकि अब उसे उपासना से कुछ प्राप्तव्य नहीं रहा। यहीं वह स्थिति है जिसे अध्यात्म में **ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः** (गीता ५।२०) अथवा **ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति** (ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म के समान[1] ही हो जाता है) ऐसा कहा जाता है ॥१॥

२. पदार्थ—

उत्—ऊपर की ओर
उ—ही
त्यम्—उस को
जातवेदसम्—उत्पन्न हो गया है ज्ञान जिसको, उसको
देवम्—श्रेष्ठ व्यवहारवाले को
वहन्ति—प्राप्त कराती हैं, बढ़ाती हैं
केतवः—भक्ति-तरङ्गें
दृशे—दिखाने=ज्ञान कराने के लिए
विश्वाय[2]—पूर्णरूप से
सूर्यम्—प्रकाशस्वरूप जगदुत्पादक प्रभु को।

भावार्थ—जिस व्यक्ति को ज्ञान उत्पन्न हो गया है, जिसका व्यवहार शुद्ध है, ऐसे प्रभु-भक्त को भक्ति-तरङ्गें प्रकाशस्वरूप सर्व जगदुत्पादक प्रभु का पूर्णरूप से ज्ञान कराने के लिए ऊपर उठाती है; उसे बराबर लक्ष्य की ओर बढ़ाती हैं ॥२॥

३. पदार्थ—

चित्रम्—अद्भुत [है]
देवानाम्—ब्रह्मस्थ उपासकों का
उत् अगात्—उन्नति की ओर ले जाने वाला है
अनीकम्—आत्मबल

---

१. संस्कृतभाषा में 'वत्' का प्रयोग न होने पर भी 'वत्' का अर्थ जाना जाता है। देखो महाभाष्य १।२।१—**अन्तरेणापि वतिमतिदेशो गम्यते—अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह, ब्रह्मदत्तवद् इति गम्यते।** इसी प्रकार यहां भी समझना चाहिये। २. चतुर्थीविभक्त्यन्त प्रतिरूपक अव्यय।

चक्षुः—मार्गदर्शक [है वह]
मित्रस्य[1]—मित्रभावना वाले उपासक का
वरुणस्य[1]—श्रेष्ठ वरणीय उपासक का
अग्नेः[1]—उत्कृष्ट ज्ञान वाले उपासक का
आप्राः—पूर्ण करता है
द्यावापृथिवी—प्रकाशक और प्रकाश्य लोकों को
अन्तरिक्षम्—मध्यस्थ आकाश को
सूर्यः—चराचर जगत् का प्रेरक वा उत्पादक
आत्मा—स्वरूप में स्थिर रखने वाला
जगतः—जंगम=चर जगत् का
तस्थुषः—स्थावर जगत् का
च—और
स्वाहा—इस सत्य को मैं अपने अनुभव से स्वीकार करता हूं।

भावार्थ—प्रभु की कृपा से ब्रह्म के उपासकों को उन्नति की ओर बढ़ाने वाला अद्‌भुत् आत्मबल प्राप्त होता है। वही आत्मबल मित्र वरुण अग्नि श्रेणि वाले उपासकों का मार्गदर्शक होता है, आत्म-गिरावट से बचाता है। इस उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त हुआ उपासक अनुभव करता है कि यह सारा प्रकाशक प्रकाश्य और मध्यस्थ लोक उस जगदुत्पादक प्रभु से परिपूर्ण हैं। कण-कण में वह व्यापक है, और वही इस चराचर जगत् का आत्मा=स्वरूप में स्थिर रखने वाला है। इस सत्य को मैं उपासक मनसा वाचा कर्मणा स्वीकार करता हूं ॥३॥

---

१. प्रथम मन्त्र में उपासक की जो तीन स्थितियां बताई हैं, वे ही क्रमशः यहां इन नामों से कही गई हैं। अविद्या के नाश हो जाने पर उपासक राग-द्वेष से रहित होकर सब का मित्र=स्नेहभाक् बन जाता है। ज्ञान प्राप्त होने पर वह सबसे श्रेष्ठ, सबसे वरणीय बन जाता है, और प्रकाशरूप देव की उपासना=उपास्य के गुणों को आत्मसात् करने से उपासक स्वयं प्रकाश-रूप बन जाता है।

४. पदार्थ—

तत्—वह
चक्षुः—मार्गदर्शक
देवहितम्[1]—जिससे देवों=उपासकों का हित हो, वह
पुरस्तात्—सन्मुख
शुक्रम्—शुद्धस्वरूप, प्रकाशमय
उच्चरत्—उपस्थित हुआ है।
पश्येम—देखें
शरदः—वर्ष
शतम्—सौ,
जीवेम—जीवें=प्राण धारण करें
शरदः शतम्—सौ वर्ष
शृणुयाम—सुनें
शरदः शतम्—सौ वर्ष
प्रब्रवाम—कहें, बोलें
शरदः शतम्—सौ वर्ष
अदीनाः[2] स्याम—अखण्डित शक्ति वाले होवें
शरदः शतम्—सौ वर्ष,
भूयः—अधिक देखें जीवें सुनें बोलें शक्तिसम्पन्न रहें
च—और
शरदः शतात्—सौ वर्षों से भी ऊपर!

भावार्थ—भक्तों=उपासकों का हितकारक मार्गदर्शक शुद्धस्वरूप प्रकाशमय देव हम उपासकों=भक्तों के सन्मुख उपस्थित हुआ है। हम उस प्रभु को सन्मुख विराजमान अनुभव करते हैं। हम उस प्रियतम देव को सौ वर्षों तक निरन्तर देखें, उसी की भक्ति अर्चना के लिए सौ वर्षों तक जीवें, उसी देव की कथा सौ वर्षों तक सुनें, और उसी प्रभु के गुणों का कथन=उच्चारण सौ वर्षों तक करें। इन सब कर्मों के लिए हम सौ वर्षों तक अखण्डितशक्ति वाले होवें। सौ वर्ष तक ही नहीं, उस से भी अधिक वर्षों तक उस देव को देखें सुनें कहें, उसी के लिए जीवें और उसकी कृपा से अदीन रहें।

---

१. देवानां हितं यस्मात् तत् देवहितम्।

२. दो अवखण्डने+क्तः, द्यतिस्यतिमास्थामित् ति किति (अष्टा० ७।४।४०) से धातु को इकारादेश। दीन=खण्डित=न+दीन=अदीन।

उपासक उपासना के समय प्रभु के जिस स्वरूप को देखता = अनुभव करता है, वह स्वरूप उपासना से व्युत्थान होने पर भी नष्ट न होवे, सांसारिक कर्म करते हुए भी हम उसी का अनुभव करें, यह भाव इस मन्त्र का है। यह योगी की उत्कृष्ट अवस्था होती है। इसे ही **शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन् वा** (सोते जागते मार्ग में चलते हुए भी उसी के ध्यान में लीन रहना) शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है ॥४॥

संस्कारविधिस्थ अधिक मन्त्र

'संस्कारविधि' में उपस्थान के प्रकरण में एक मन्त्र अधिक है। वह भी अत्यन्त भावपूर्ण है। इसलिये हमउसकी भी संक्षिप्त व्याख्या यहां करते हैं। वह मन्त्र इस प्रकार है—

जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः ।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः ॥ ऋ० १।९९।१॥

भावार्थ—चराचर जगत् के स्वामी के लिये हम उपासक सोम का अभिषव = भक्तिपूर्वक उपासना करते हैं। कंजूसी करने वाले, अदानशील = आत्म-समर्पण न करने वाले, भक्तम्मन्य व्यक्ति की साधना उसके कृपाकटाक्ष के अभाव में निष्फल हो जाती है। वह अतितेजस्वी प्रभु हमारे सम्पूर्ण दुरितों को नष्ट कर देवे, हमें दुर् इत = भवसागर से उसी प्रकार पार कर देवे, जैसे नौका से महानदी को पार किया जाता है।

इस प्रकार उपासक प्रभु का उपस्थान = आनन्दमयी जगज्जननी की गोद में बैठकर उसके स्नेह वा आनन्द का आस्वादन करके प्रभु से संसार में श्रेष्ठतम पदार्थ—सुपथगामी बुद्धि की प्रार्थना करे।[1]

इति उपस्थान-प्रकरण ॥

---

१. कई लोग उपस्थान के पश्चात् गायत्री मन्त्र से पूर्व शं नो देवी० से तीन आचमन करते हैं। इसका विधान 'संस्कारविधि' में मिलता है, परन्तु 'पञ्चमहायज्ञविधि' में नहीं है। इसका कारण कर्मभेद की विवक्षा अथवा

प्रार्थना-मन्त्र

विनियोग—नीचे लिखे मन्त्र से उपासक प्रभु से सुपथगामी बुद्धि की प्रार्थना करता हुआ शिखा-बन्धन करे—

ओ३म् भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

य० अ० ३६ मं० ३॥ ऋ० मण्डल ३ । सू० ६२ । मं० १० ॥

पदार्थ—

ओम्—सबका रक्षक
भूः[1]—सबका प्राण=जीवन-रूप, प्राणों के समान प्रिय
भुवः[2]—दुःखों को दूर करने वाला
स्वः[3]—सकल जगत् को चलाने वाला
तत्—उस [स्वरूप का जो]
सवितुः[4]—सकल जगत् के प्रेरक वा उत्पादक के
वरेण्यम्—वरणीय सुन्दर

अविवक्षा है । यदि 'मनसा परिक्रमा' से लेकर 'समर्पण' पर्यन्त अवान्तर कर्म भेद होने पर भी एक ही प्रधान कर्म मानें, तो मध्य में आचमन नहीं होना चाहिये । यदि गायत्री मन्त्र से की गई प्रार्थना को उपस्थान से पृथक् स्वतन्त्र कर्म मानें, तो उपस्थान के अनन्तर आचमन युक्त है । अतः दोनों विधानों में कोई मौलिक भेद नहीं है ।

१. भूरिति वै प्राणः (तै० उ०) । यः प्राणयति सर्वान्, प्राणादपि प्रियस्वरूपो वा ।

२. भुवरित्यपानः (तै० उ०) । यः उपासकानां दुःखमपानयति स दयालुरीश्वरः ।

३. स्वरिति व्यानः (तै० उ०) । यः सकलं जगद् व्यानयति चेष्टयति स व्यानः ।

४. षू प्रेरणे, षूङ् प्राणिगर्भविमोचने ।

भर्गः—प्रकाशस्वरूप
देवस्य--सबके प्रकाशक देव के
धीमहि—ध्यान करते हैं।
धियः—धारणावती बुद्धियों को
यः—जो उक्त स्वरूप वाला है, वह
नः—हमारी
प्रचोदयात्—[सुमार्ग में] प्रेरित करे।

भावार्थ—सब का रक्षक ब्रह्म भूः=चराचर जगत् का प्राण स्वरूप है, भुवः=दुःखों को दूर करने वाला और स्वः=सकल जगत् को नियम में चलाने वाला है। हम सकल जगत् के प्रेरक वा उत्पादक प्रकाशमय देव के उस वरणीय सुन्दर प्रकाशमय स्वरूप का ध्यान करते हैं, जो भक्तों के लिए प्रत्यक्ष दृश्य रूप है। वह हमारी धारणा गुणवाली बुद्धियों को सुमार्ग में प्रेरित करे।

विशेष—यह गायत्री मन्त्र कहाता है। इस की गायत्री संज्ञा इसलिए है कि इस मन्त्र का विचारपूर्वक जप करने से सुबुद्धि की प्राप्ति होती है[1]। सुबुद्धि प्राप्त हो जाने पर मनुष्य अधर्माचरण से बच जाता है। इस प्रकार यह मन्त्र उपासक की सर्वविध दुःखों से रक्षा करता है।

गुरु-मन्त्र—इस मन्त्र को 'गुरु-मन्त्र' भी कहते हैं। इसके दो कारण हैं। एक—वेदारम्भ संस्कार में आचार्य शिष्य को प्रथम इसी मन्त्र का उपदेश करता है। दूसरा—इस मन्त्र के अर्थविचार-पूर्वक जप से सुबुद्धि की प्राप्ति होती है। सुबुद्धि गुरुओं की भी गुरु है।

शिखा-बन्धन—'पञ्चमहायज्ञविधि' के आरम्भ में ऋषि दयानन्द ने प्राचीन परिपाटी के अनुसार इस मन्त्र से शिखा-बन्धन का विधान किया है। शिखा-बन्धन विस्मृति के अभाव का अथवा

---

१. विशेष देखो पूर्व पृष्ठ २८ पर टिप्पणी १।

स्मरण रखने का उपलक्षक हैं। लोक में 'मैंने यह बात गांठ बांधली' में 'गांठ बांधना' भी इसी भाव को व्यक्त करता हैं। लोक में प्रायः देखा जाता है कि जो लोग विस्मरण स्वभाव वाले होते हैं, वे स्मरणीय बात को भूल न जावें, इसके लिए रुमाल, दुपट्टे या धोती के पल्ले में गांठ बांध लेते हैं, उसे देखकर उन्हें स्मरणीय बात स्मृतिपथ पर आ जाती है। यहां भी शिखा-बन्धन का यही भाव है कि उपस्थान के पश्चात् प्रभु से सुबुद्धि के लिए जो प्रार्थना की है वह अगली सन्ध्योपासना तक स्मरण रहे; व्युत्थान अवस्था में उसे भूल कर उपासक अधर्म में प्रवृत्त न हो जावे।

शिखा-बन्धन ही क्यों—प्राचीन परिपाटी के अनुसार यज्ञीय वस्त्र पृथक् होते थे, जिन्हें पहन कर सन्ध्यादि नैत्यिक कर्म किए जाते थे। उन्हें नैत्यिक कर्म के पश्चात् उतार कर साधारण वस्त्र पहने जाते थे। अतः उपासनाकाल में धारित वस्त्रों में स्मरणोपलक्षक ग्रन्थीबन्धन हो ही नहीं सकता। शिखा शरीर का ऐसा अवयव है जो सदा रहता है, और उसमें गांठ बांधी भी जा सकती है।

ऋषि दयानन्द ने शिखाबन्धन का प्रयोजन 'वायु से केश उड़ कर ध्यान-भंग के निमित्त न बनें' लिखा है, परन्तु साथ ही 'प्रभु भक्त की प्रार्थना से भक्त-प्रवण होकर उसकी सदा रक्षा करें' प्रयोजन भी लिखा है। इस प्रयोजन को शिखाबन्धन सुबुद्धि की प्रार्थना का स्मारक होकर अधर्माचरण से रक्षा करके पूर्ण करने में समर्थ है।

इति प्रार्थना-प्रकरण ॥

अथ समर्पण

विनियोग—निम्नलिखित वाक्य से उपासक अहंकार की निवृत्ति के लिए किए गए सन्ध्योपासन कर्म को प्रभु को समर्पित करे[१]—

---

१. यह समर्पण 'इदं न मम' का ही रूप है।

हे ईश्वर दयानिधे! भवत्कृपयाऽनेन जपोपासनादिकर्मणा धर्मार्थकाममोक्षाणां सद्यः सिद्धिर्भवेन्नः ॥

भावार्थ—हे ईश्वर दयानिधे! आपकी कृपा से जप उपासना आदि जो-जो उत्तम काम हम लोग करते हैं, वे सब आप के समर्पण हैं। इन शुभ कर्मों से धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की सिद्धि हमको शीघ्र प्राप्त होवे।

इति समर्पण-प्रकरण ॥

नमस्कार-मन्त्र

विनियोग—उपासना के अन्त में उपासक निम्नलिखित मन्त्र से उपास्य देव को नमस्कार करे—

ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च
नमः शङ्कराय च मयस्कराय च
नमः शिवाय च शिवतराय च ॥

यजुः अ० १६। मन्त्र ४१॥

पदार्थ—

नमः—नमस्कार [होवे]
शम्भवाय[1]—कल्याण देने (करने) वाले प्रभु के लिए
च—और
मयोभवाय[1]—सुख प्राप्त कराने वाले प्रभु के लिए
च—और
नमः—नमस्कार [होवे]

१. शं मयो वा भावयते प्रापयति। भू प्राप्तावात्मनेपदी (चु०), यद्वा भू सत्तायाम्—अन्तर्भावितण्यर्थात् 'अच्'।

शङ्कराय[1]—कल्याण करना जिसका स्वभाव है, ऐसे प्रभु के लिए ।

मयस्कराय[2]—सुख करना=देना ही जिस का स्वभाव है, ऐसे प्रभु के लिए

च—और

नमः—नमस्कार [होवे]

शिवाय[3]—कल्याण करने वाले प्रभु के लिए

च—और

शिवतराय—अति कल्याण करने वाले प्रभु के लिए

च—और

भावार्थ—उपासक को कल्याण प्राप्त कराने वाले और सुख देने वाले प्रभु के लिए हमारा नमस्कार है। भक्तों का कल्याण और सुख करना ही जिसका स्वभाव है, ऐसे प्रभु के लिए हमारा नमस्कार है। कल्याण करने वाले, अति कल्याण करने वाले प्रभु के लिए हमारा नमस्कार है।

इस प्रकार प्रभु-भक्त सन्ध्योपासना के अन्त में तीन बार नमस्कार करे।

इति सन्ध्योपासनविधिः ॥

---

१. शं मयो वा उपपदे कृञ् धातोः ताच्छील्ये (अष्टा० ३।२।२०) 'ट' प्रत्ययः ।

२. 'शिव कल्याणे' इति बहुलमेतन्निदर्शनम् (धातुपाठ १०।३६६) वचनानुसारी ऊहित धातु (द्र० स० प्र० समु० १ शिवनाम व्याख्या में)।

ईश्वर-स्तुति-प्रार्थनोपासना-प्रकरण

सन्ध्योपासना के पश्चात् दैनिक अग्निहोत्र करना चाहिए। हम पूर्व (पृष्ठ १५) लिख चुके हैं कि 'संस्कार-विधि' के सामान्य प्रकरण में लिखे 'ईश्वर-स्तुति-प्रार्थनोपासना के मन्त्र' दैनिक अग्निहोत्र के अवयव नहीं हैं; पुनरपि हम दैनिक अग्निहोत्र से पूर्व इन मन्त्रों का विनियोग उपयोगी समझते हैं। ये मन्त्र दोनों—सन्ध्या और अग्निहोत्र—कर्मों को जोड़ने वाली उत्कृष्ट कड़ी हैं। इस प्रकरण के चार मन्त्रों में पठित **कस्मै देवाय हविषा विधेम** पद अग्निहोत्र का मुख्य प्रयोजन भी बता रहे हैं। इनके अनुसार सुखस्वरूप देव प्रभु की प्रसन्नता वा प्राप्ति के लिए ही हमें हवि घृत आदि[1] पदार्थों से आहुति देनी चाहिए। **प्रजापते न त्वद्०** मन्त्र यह भी बताता है कि यदि अग्निहोत्र किसी लौकिक कामना विशेष से किया जाये[2], तो वह भी उस प्रभु की कृपा से पूर्ण हो जाती है। क्योंकि वह हमारा बन्धु=माता पिता भ्राता सभी कुछ है (द्र० **स नो बन्धुः०** मन्त्र)। पर लौकिक कामना की अपेक्षा अपने आत्मा और अन्तःकरण की शुद्धि के लिए ही अग्निहोत्र करना श्रेष्ठ है (द्र० पृष्ठ ३४ शतपथ

---

१. इनका निर्देश आगे करेंगे।

२. यद्यपि दैनिक कर्म निष्काम भावना से ही करने चाहियें, तथापि कामनापूर्वक इन्हें करने से भी उन कामनाओं की पूर्ति होती है, ऐसा प्राचीन शास्त्रकारों का कथन है (द्र० मीमांसा २।२।२५-२६)। अग्निहोत्र प्रकरणस्थ **दध्नेन्द्रियकामस्य** (तै० ब्रा० २।१।५।६) इत्यादि शास्त्रवचन भी इसी के पोषक हैं।

का वचन) । आत्मा और अन्तःकरण की शुद्धि होने पर दयामय प्रभु स्वयं उपासक को सभी आवश्यक भोग्य पदार्थ प्रदान कर देते हैं (देखो मन्त्र ८) । प्रथम मन्त्र भी, दुरितों को दूर करने और भद्र= कल्याण की प्राप्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए, इसी का निर्देश करता है । इस प्रकार यह सन्ध्या और अग्निहोत्र कर्मों की कड़ी को जोड़ने वाला महत्त्वपूर्ण प्रकरण है ।

अब हम इस प्रकरण के मन्त्र लिखते हैं । इनकी व्याख्या हम स्वयं न करके ऋषि दयानन्द की 'संस्कार-विधि' में लिखित व्याख्या ही उद्धृत करते हैं, क्योंकि वह बहुत सरल एवं भावपूर्ण है ।

आचमन—ईश्वर-स्तुति-प्रार्थनोपासना से पूर्व 'संस्कार-विधि' (पृष्ठ २६६) के अनुसार **शं नो देवी:०** से तीन आचमन करें ।

विनियोग—अग्निहोत्र से पूर्व निम्नलिखित ८ मन्त्रों से ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना करें—

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।

यद् भद्रं तन्न आ सुव ॥१॥ यजुः अ० ३० । मं० ३ ॥

१—हे (सवितः) सकल जगत् के उत्पत्तिकर्ता, समग्र ऐश्वर्य-युक्त, (देव) शुद्धस्वरूप, सब सुखों के दाता, परमेश्वर ! आप कृपा करके (नः) हमारे (विश्वानि) सम्पूर्ण (दुरितानि) दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को (परा सुव) दूर कर दीजिए । (यत्) जो (भद्रम्) कल्याणकारक गुण कर्म स्वभाव और पदार्थ है, (तत्) वह सब हमको (आ सुव) प्राप्त कीजिए ॥१॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।२।।

यजुः अ० १३ । मं० ४ ।।

२—जो (हिरण्यगर्भः) स्वप्रकाशस्वरूप और जिसने प्रकाश करनेहारे सूर्यचन्द्रमादि पदार्थ उत्पन्न करके धारण किये हैं, जो (भूतस्य) उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत् का (जातः) प्रसिद्ध (पतिः) स्वामी (एकः) एक ही चेतनस्वरूप (आसीत्) था, जो (अग्रे) सब जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व (समवर्तत) वर्तमान था; (सः) सो (इमाम्) इस (पृथिवीम्) भूमि (उत) और (द्याम्) सूर्यादि को (दाधार) धारण कर रहा है। हम लोग उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) शुद्ध परमात्मा के लिए (हविषा) ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास और अतिप्रेम से (विधेम) विशेष भक्ति किया करें ।।२।।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।३।।

यजुः अ० २५ । मं० १३ ।।

३—(यः) जो (आत्मदाः) आत्मज्ञान का दाता, (बलदाः) शरीर आत्मा और समाज के बल का देने हारा, (यस्य) जिसकी (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (उपासते) उपासना करते हैं और (यस्य) जिसका (प्रशिषम्) प्रत्यक्ष सत्यस्वरूप शासन और न्याय अर्थात् शिक्षा को मानते हैं, (यस्य) जिसका (छाया) आश्रय ही (अमृतम्) मोक्षसुखदायक है, (यस्य) जिसका न मानना अर्थात् भक्ति न करना ही (मृत्युः) मृत्यु आदि दुःख का हेतु है, हम लोग उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) सकल ज्ञान के देनेहारे परमात्मा

की प्राप्ति के लिए (हविषा) आत्मा और अन्तःकरण से (विधेम) भक्ति अर्थात् उसी की आज्ञा पालन करने में तत्पर रहें ।।३।।

य प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।४।।

यजः अ० २३ । मं० ३ ।।

४—(यः) जो (प्राणतः) प्राणवाले और (निमिषतः) अप्राणिरूप (जगतः) जगत् का (महित्वा) अपने अनन्त महिमा से (एक इत्) एक ही (राजा) विराजमान राजा (बभूव) है, (यः) जो (अस्य) इस (द्विपदः) मनुष्यादि और (चतुष्पदः) गौ आदि प्राणियों के शरीर की (ईशे) रचना करता है, हम उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) सकलैश्वर्य के देनेहारे परमात्मा के लिए (हविषा) अपनी सकल उत्तम सामग्री से (विधेम) विशेष भक्ति करें ।।४।।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्व स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।५।।

यजुः अ० ३२ । मं० ६ ।।

५—(येन) जिस परमात्मा ने (उग्रा) तीक्ष्ण स्वभाव वाले (द्यौः) सूर्य आदि (च) और (पृथिवी) भूमि को (दृढा) धारण, (येन) जिस जगदीश्वर ने (स्वः) सुख को (स्तभितम्) धारण, और (येन) जिस ईश्वर ने (नाकः) दुःखरहित मोक्ष को धारण किया है, (यः) जो (अन्तरिक्षे) आकाश में (रजसः) सब लोक-लोकान्तरों को (विमानः) विशेष मानयुक्त अर्थात् जैसे आकाश में पक्षी उड़ते हैं, वैसे सब लोकों का निर्माण करता और भ्रमण कराता है; हम लोग उस (कस्मै) सुखदायक (देवाय) कामना करने के योग्य परब्रह्म की प्राप्ति के लिये (हविषा) सब सामर्थ्य से (विधेम) विशेष भक्ति करें ।।५।।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥६॥
ऋ० मं० १०। सू० १२१। मं १०॥

६—हे (प्रजापते) सब प्रजा के स्वामी परमात्मा! (त्वत्) आप से (अन्यः) भिन्न दूसरा कोई (ता) उन (एतानि) इन (विश्वा) सब (जातानि) उत्पन्न हुए जड़ चेतनादिकों को (न) नहीं (परिबभूव) तिरस्कार करता है, अर्थात् आप सर्वोपरि हैं। (यत्कामाः) जिस जिस पदार्थ की कामना वाले हम लोग (ते) आपका (जुहुमः) आश्रय लेवें और वाञ्छा करें, (तत्) उस उस की कामना (नः) हमारी सिद्ध (अस्तु) होवे, जिससे (वयम) हम लोग (रयीणाम्) धनैश्वर्यों के (पतयः) स्वामी (स्याम) होवें ॥६॥

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥७॥
यजुः अ० ३२। मं० १०॥

७—हे मनुष्यो! (सः) वह परमात्मा (नः) अपने लोगों को (बन्धुः) भ्राता के समान सुखदायक, (जनिता) सकल जगत् का उत्पादक, (सः) वह (विधाता) सब कामों का पूर्ण करनेहारा, (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) लोकमात्र और (धामानि) नाम, स्थान और जन्मों को (वेद) जानता है। और (यत्र) जिस (तृतीये) सांसारिक सुख दुःख से रहित नित्यानन्दयुक्त (धामन्) मोक्षस्वरूप धारण करने हारे परमात्मा में (अमृतम्) मोक्ष को (आनशानाः) प्राप्त होके (देवाः) विद्वान् लोग (अध्यैरयन्त) स्वेच्छापूर्वक विचरते हैं, वही परमात्मा अपना गुरु आचार्य राजा और न्यायाधीश है। अपने लोग मिल के सदा उसकी भक्ति किया करें ॥७॥

अग्ने नय॑ सुपथा॑ रा॒ये अ॒स्मान् विश्वा॑नि देव व॒युना॑नि वि॒द्वान् ।
यु॒यो॒ध्य॒स्मज्जु॑हुरा॒णमेनो॒ भूयि॑ष्ठां ते नम॑उक्तिं विधेम ॥८॥

८—हे (अग्ने) स्वप्रकाश, ज्ञानस्वरूप सब जगत् के प्रकाश करने हारे (देव) सकल सुखदाता परमेश्वर ! आप जिससे (विद्वान्) सम्पूर्ण विद्यायुक्त हैं, कृपा करके (अस्मान्) हम लोगों को (राये) विज्ञान वा राज्यादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये (सुपथा) अच्छे धर्मयुक्त आप्त लोगों के मार्ग से (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) प्रज्ञान और उत्तम कर्म (नय) प्राप्त कराइये, और (अस्मत्) हमसे (जुहुराणम्) कुटिलतायुक्त (एनः) पापरूप कर्म को (युयोधि) दूर कीजिये, इस कारण हम लोग (ते) आपकी (भूयिष्ठाम्) बहुत प्रकार की स्तुतिरूप (नमउक्तिम्) नम्रतापूर्वक प्रशंसा (विधेम) सदा किया करें और आनन्द में रहें ॥८॥

दैनिक-अग्निहोत्र-विधि

अग्निहोत्र का हव्य द्रव्य

अग्निहोत्र का प्रधान हव्य द्रव्य घृत ही है। किन्तु कर्म की अपेक्षा द्रव्य गौण होता है, इसलिए घृत के अभाव में नैत्यिक कर्म का परित्याग नहीं करना चाहिए। घृत के स्थान पर अन्य हव्य द्रव्य से अग्निहोत्र सम्पन्न किया जा सकता है। ऋषि दयानन्द ने चार प्रकार के जो हव्य द्रव्य 'संस्कारविधि' में लिखे हैं, उनमें से सुलभ द्रव्य से नैत्यिक कार्य की पूर्ति कर लेनी चाहिए। गोभिल गृह्यसूत्र (१।९।१५-१६) में मुख्य हविष्य द्रव्य की अनुपलब्धि में द्रव्यान्तर का विधान इस प्रकार किया है—

अपि वा यज्ञियानामेवौषधिवनस्पतीनां फलानि वा पलाशानि वा श्रपयित्वा जुहुयात्। अप्यप एवान्ततो जुहुयात्॥

अर्थात्—यज्ञीय ओषधियों अथवा वनस्पतियों के फलों वा पत्तों को पका कर यज्ञ करे। अथवा इनकी अप्राप्ति में उदक से ही होम करे।

यही प्रसङ्ग शतपथ (११।३।१।२-४) में इस प्रकार स्पष्ट किया है—

वैदेह जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा—हे याज्ञवल्क्य! अग्निहोत्र (=अग्निहोत्र-साधन[1]) को जानते हो? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे

---

१. साध्य में साधन शब्द का गौण व्यवहार है। जैसे—आयुर्घृतम् कहा जाता है, इसका अर्थ है आयु का निमित्त=साधन घृत है।

सम्राट्! जानता हूं। वैदेह जनक ने पूछा--वह क्या है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—पयः=दूध ही है। यदि पयः उपलब्ध न होवे तो किससे अग्निहोत्र करे? व्रीहि यव से। यदि व्रीहि और यव न होवें तो किससे अग्निहोत्र करे? जो अन्य (व्रीहियव-भिन्न) ओषधियां हैं उनसे। यदि अन्य ओषधियां भी न मिलें तो किससे अग्निहोत्र करे? जो आरण्य ओषधियां हैं उन से। यदि आरण्य ओषधियां भी प्राप्त न हों तो किससे अग्निहोत्र करे? वानस्पत्य (=वनस्पति=वृक्ष के विकार वा अवयव=फल पत्र आदि) से। यदि वानस्पत्य पदार्थ भी उपलब्ध न हो तो किस से अग्निहोत्र करे? जल से। यदि जल भी उपलब्ध न होवे तो किससे अग्निहोत्र करे? याज्ञवल्क्य ने कहा कि जब कुछ भी नहीं था तब भी तो अग्निहोत्र होता ही था[1]। इसलिए द्रव्यमात्र के अभाव में सत्य को श्रद्धा में होम करे। वैदेह जनक ने कहा निश्चय ही याज्ञवल्क्य! तुम अग्निहोत्र को जानते हो।

वैदिक अग्निहोत्र में ऋषि ने घृत के अतिरिक्त अन्य वस्तु का नाम नहीं लिखा है, पुनरपि मुख्य द्रव्य के अभाव में अन्य द्रव्य से अग्निहोत्र कर लेना चाहिए।

चार प्रकार के हव्य द्रव्य

ऋषि दयानन्द ने चार प्रकार के हव्य द्रव्यों का विधान किया है[2]। परन्तु ऋषि ने आर्यसमाज में व्यवहृत होने वाली सामग्री का रूप अपने ग्रन्थ में कहीं नहीं दर्शाया, और ना ही सम्पूर्ण 'संस्कार-विधि' में इस कुटे हुए संकर द्रव्य से आहुति देने का विधान किया

---

१. यह आधिदैविक अग्निहोत्र की उस आदिम अवस्था की ओर संकेत है, जब सूर्य पृथिवी का निर्माण हो गया था, परन्तु न पृथिवी पर जल था न ओषधि-वनस्पतियां।

२. इन की पुष्टि गोमिलगृह्य और शतपथ के पूर्वोक्त वचन से होती है।

है। अतः वर्तमान में प्रचलित सामग्री ऋषि दयानन्द एवं प्राचीन शास्त्रकारों द्वारा अमान्य है। ऋषि दयानन्द का यज्ञीय पदार्थों का चातुर्विध्य वर्गीकरण करके उनके कुछ उदाहरण देने तक ही तात्पर्य है। 'संस्कारविधि' में इन्हीं पदार्थों से सिद्ध किये चावल खिचड़ी एवं मोहनभोग आदि पदार्थों का निर्देश मिलता है। विविध वस्तुओं के मिश्रण से कूट कर बनाई सामग्री का हमें सबसे पुराना निर्देश सं० १९६० के आस पास का मिला है।

आचमन-अङ्गस्पर्श-प्रकरण

आचमन-मन्त्र

विनियोग—अग्निहोत्र आरम्भ करने से पूर्व निम्न मन्त्रों के अर्थविचार पूर्वक तीन आचमन करें—

ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥१॥ इससे एक,

ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥२॥ इससे दूसरा,

ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥३॥ इस से तीसरा

तैत्तिरीय आरण्यक प्र० १०। अनु० ३२, ३५ ॥

पदार्थ—

ओम्—हे सर्वरक्षक !
अमृत—अविनाशिस्वरूप! आप
उपस्तरणम्—नीचे=अपने अन्दर से प्राप्त होने वाले दुःखों के आच्छादक=रक्षक
असि—हैं,
स्वाहा—यह मैं यथार्थ रूप से जानता हूं ॥१॥
ओम्—हे सर्वरक्षक !
अमृत—अविनाशिस्वरूप ! आप

अपिधानम्—ऊपर=बाहर से प्राप्त होने वाले दुःखों के ढकने वाले=रक्षक
असि—हैं,
स्वाहा—यह मैं यथार्थरूप से जानता हूं ।।२।।
ओम्—हे सर्वरक्षकप्रभो !
सत्यम्—सत्य-ज्ञान
यशः—यश
श्रीः—कान्ति
मयि—मुझ में
श्रीः—धन-सम्पदा
श्रयताम्—आश्रय पावे अर्थात् मुझे प्राप्त होवे
स्वाहा—यह मैं आपसे प्रार्थना करता हूं ।।३।।

भावार्थ—हे अविनाशी सर्वरक्षक प्रभो! हमें आप अपने भीतर से प्राप्त होने वाले दुःखों से बचाने वाले हो। आप ही हमें बाहर से प्राप्तहोने वाले दुःखों से भी बचाने वाले हो। हे सर्वरक्षक प्रभो! आप हमें सत्य-ज्ञान यश कान्ति धन-सम्पदा आदि समस्त श्रेष्ठ पदार्थ प्राप्त करायें, जिससे हम आपसे रक्षित होकर इस जीवन में सुख-शान्ति से रहें ।।१-३।।

विनियोगपरक अर्थ—अमृत=जल हमारा उपस्तरण=नीचे से शीत से बचाने वाले बिछौने के समान सुखकारी होवे। अमृत=जल ही हमारा अपिधान=बाहर से शीत से बचाने वाले वस्त्र के समान सुखकारी होवे। जल का आचमन करते हुए हम भीतर बाहर से जल के समान निर्मल होवें, और जल के यथार्थ प्रयोग से विविध सुख व ऐश्वर्यों को प्राप्त होवें।

अङ्ग-स्पर्श-मन्त्र

विनियोग—निम्न मन्त्रों से अर्थविचार पूर्वक अपने अङ्गों के दोषों को दूर करने की प्रभु से प्रार्थना करते हुए वाम हस्त में तनिक जल लेकर दाहिने हाथ से उस जल को स्पर्श करके मार्जन करें—

ओं वाङ् म आस्येऽस्तु ॥ इस मन्त्र से मुख,
ओं नसोर्मे प्राणोऽस्तु ॥ इस मन्त्र से नासिका के दोनों छिद्र,
ओम् अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों आंखें,
ओं कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों कान,
ओं बाह्वोर्मे बलमस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों भुजाएं
ओम् ऊर्वोर्म ओजोऽस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों जंघाएं,
ओम् अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु ॥इस से शरीर के सब अङ्गों का।

पारस्कर गृ० का० २। कण्डिका ३। सू० २५॥

१. पदार्थ—

ओम्—हे ज्ञान के उपदेशक प्रभो !
वाक्—वाक्-शक्ति
मे—मेरे
आस्ये—मुख में
अस्तु--विद्यमान रहे ॥१॥

ओम्—हे जीवन देनेहारे प्रभो!
नसोः—दोनों नासिकाओं में
मे—मेरी
प्राणः—जीवन प्रदान करने हारी प्राणशक्ति
अस्तु—विद्यमान रहे ॥२॥

ओम्—हे मार्गदर्शक प्रभो!
अक्ष्णोः—दोनों आंखों में
मे—मेरी
चक्षुः—दर्शनशक्ति
अस्तु—विद्यमान रहे ॥३॥

ओम्—हे भक्तों की प्रार्थना को सुननेवाले प्रभो !
कर्णयोः—दोनों कानों में
मे—मेरे
श्रोत्रम्—श्रवणशक्ति
अस्तु—विद्यमान रहे ॥४॥

ओम्—हे सब बाधाओं को दूर करनेहारे प्रभो !
बाह्वोः—दोनों भुजाओं में

मे—मेरी
बलं—बल-शक्ति
अस्तु—विद्यमान रहे ।।५।।

ओम्—हे पराक्रम के देनेहारे प्रभो !
ऊर्वोः—दोनों जांघों में
मे—मेरी
ओजः—पराक्रम
अस्तु—विद्यमान रहे ।।६।।

ओम्—हे न्यूनताओं को दूर करनेहारे प्रभो !
अरिष्टानि—न्यूनतारहित, दोषरहित
मे—मेरे
अङ्गानि—अङ्ग [और]
तनूः—शरीर [के अन्य अङ्ग]
तन्वा—शरीर
मे—मेरे
सह—साथ
सन्तु—सदा विद्यमान रहें ।७।

भावार्थ—हे सर्वरक्षक प्रभो ! आपकी कृपा से मेरे मुंह में वाक् शक्ति, नासिकाओं में प्राणशक्ति, आँखों में दर्शन शक्ति, कानों में श्रवण शक्ति, भुजाओं में बल और जङ्घाओं में वेग पराक्रम शक्ति सदा विद्यमान रहे। मेरे सभी अङ्ग प्रत्यङ्ग न्यूनता वा दोषों से रहित होते हुए शरीर के साथ सदा वर्तमान रहें, अर्थात् जब तक शरीर रहे तब तक मेरे सभी अङ्ग प्रत्यङ्ग स्थिर बलवान् रहें, शक्तिहीन न हों ।।१-७।।

विनियोगपरक अर्थ—जल दोषों व मलों के दूर करने वाले और बलवर्धक होते हैं, अतः जल के स्पर्श द्वारा इन अङ्गों के दोषों=न्यूनताओं को दूर करने की भावना करनी चाहिये । स्नान पान आदि यथोचित व्यवहार से अपने शरीर व अङ्ग-प्रत्यङ्गों को स्वस्थ एवं बलवान् बनाना चाहिये ।

[1]अग्न्याधान-प्रकरण

अग्नि-ज्वालन-मन्त्र

विनियोग—निम्न मन्त्र के द्वारा दीपक या दियासलाई से कपूर, घृत लगी रूई अथवा समिधा को प्रज्वलित करें—

ओम् भूर्भुवः स्वः । गोभिल गृ० १।१।११॥

पदार्थ—

ओम्—हे सर्वरक्षक प्रभो ! आप
भूः—सबके जनक, प्राणस्वरूप
भुवः—दुःखों को दूर करने-हारे
स्वः—सुखस्वरूप हैं ।

विनियोगपरक अर्थ—जगत्सृष्टा प्रभु के द्वारा उत्पादित अग्नि भूः—पृथिवीलोक, भुवः—अन्तरिक्ष लोक और स्वः—द्युलोक में क्रमशः अग्नि विद्युत और सूर्यरूप से वर्तमान है[2] । मेरे द्वारा प्रज्वलित यह अग्नि भी इन तीनों अग्नियों का प्रतिनिधि रूप है ।

अग्नि-स्थापन-मन्त्र

विनियोग—पूर्व प्रज्वलित अग्नि को निम्न मन्त्र से कुण्ड में स्थापित करे । यह कार्य मन्त्र के आदधे पद के उच्चारण के साथ करना चाहिये । प्रज्वलित-अग्नि-स्थापना का मन्त्र इस प्रकार है—

---

१. यद्यपि अग्न्याधान का अर्थ यज्ञकुण्ड में अग्नि का स्थापनमात्र है, पुनरपि कर्मकाण्ड में यह पद अग्न्याधान सम्बन्धी सम्पूर्ण क्रिया का वाचक माना गया है ।

२. स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनच्छक्तिभी रोदसीप्राम् ।
तमू अकृणवंस्त्रेधा भुवे कं स ओषधीः पचति विश्वरूपाः ॥
ऋ० १०।८८।१०॥
तमकुर्वंस्त्रेधा भावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीतिशाकपूणिः ।
निरुक्त ७।२८॥

ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा ।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ॥
यजु० अ० ३ । मं० ५ ॥

पदार्थ—

ओम्—हे सर्वस्रष्टा प्रभो !	तस्याः—उस
भूः—आप सबके उत्पादक, प्राणस्वरूप	ते—तुम्हारी
भुवः—दुःखों के दूर करनेहारे	पृथिवि—विस्तीर्ण
स्वः—सुखस्वरूप हो ।	देवयजनि—देवों का यजन जिसमें किया जाता है, उसके
द्यौः इव—प्रकाश करनेहारे लोक के समान	पृष्ठे—पीठ पर
भूम्ना—महत्ता से	अग्निम्—अग्नि को
पृथिवी इव—पृथिवी के समान	अन्नादम्—हवि योग्य पदार्थों को खानेवाले
वरिम्णा—श्रेष्ठता से [युक्त जो वेदि है]	अन्नाद्याय—हवि को खाने-के लिए
	आ दधे—स्थापन करता हूं, धरता हूं ॥

भावार्थ—हे सब के उत्पादक प्राणस्वरूप, दुःखनाशक सुख-स्वरूप प्रभो ! आपके आदेशानुसार मैं महत्ता से द्युलोक के समान, श्रेष्ठता से पृथिवी लोक के समान जो यह विस्तीर्ण देवयजन=यज्ञवेदि है, उसके पीठ पर (यज्ञकुण्ड में) हविरूप पदार्थों को भक्षण करके सूक्ष्मरूप में फैलाने के लिये हविरूप पदार्थों का भक्षण करने वाले अग्नि को स्थापित करता हूं ॥

अग्नि-समिन्धन-मन्त्र

विनियोग—वेदि में स्थापित अग्नि को निम्न मन्त्र से व्यजन (=पंखे) आदि के द्वारा प्रदीप्त करे—

ओम् उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते सꣳसृजेथामयं च।
अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥
यजुः अ० १५। मं० ५४॥

पदार्थ —

ओम्—हे प्रभो ! आपकी कृपा से
उद्बुध्यस्व—प्रकाशित होवे
अग्ने—यह अग्नि
प्रतिजागृहि—प्रदीप्त होवे
त्वम्—यह[1] [अग्नि]
इष्टापूर्ते—हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ[2] को
संसृजेथाम्—सम्पन्न करे
अयम्—यह यजमान [मिल कर]
च—और।
अस्मिन्—इस
सधस्थे—सहस्थान=यज्ञ वेदि
अधि—में [तथा]
उत्तरस्मिन्—उत्तर वेदि में
विश्वे देवाः—सब देव जन[3]
यजमानः—यजमान
च—और
सीदत—बैठें ॥

---

१. इस मन्त्र का ईश्वरपरक अर्थ भी हो सकता है, परन्तु हमने यहां विनियोगानुसार यज्ञीय अग्निपरक ही अर्थ किया है। इसी कारण त्वम् का अर्थ 'यह' किया है।

२. इष्ट से यज्ञयागादि और आपूर्त से धर्मार्थ तडाग आदि का निर्माण रूप अर्थ लिया जाता है। परन्तु इस मन्त्र के उत्तरार्ध में उत्तर सधस्थ का निर्देश होने से हमने हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ अर्थ किए हैं, क्योंकि उत्तरवेदि सोमयज्ञों में बनाई जाती है।

३. यज्ञों में निमन्त्रित विद्वान् अथवा ऋत्विग् जन।

भावार्थ – हे प्रभो ! आप की कृपा से मेरे द्वारा स्थापित अग्नि अच्छे प्रकार प्रदीप्त होवे, जिससे यह अग्नि और यजमान दोनों हवियंज्ञ और सोमयज्ञों को सम्पन्न करें; तथा एक साथ बैठने योग्य जो यह यज्ञवेदि और सोमयज्ञों की उत्तरवेदि है, उसमें सब देव-जन और यजमान मिलकर बैठें ।।

समिदाधान-मन्त्र

विनियोग—जब अग्नि समिधाओं में प्रविष्ट होने लगे, तब चन्दन की अथवा पलाशादि की तीन समिधायें आठ-आठ अंगुल की घृत में डुबो[1], उनमें से नीचे लिखे मन्त्रों से एक-एक समिधा को अग्नि में चढ़ावें । वे मन्त्र ये हैं—

ओम् अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा ।। इदमग्नये जातवेदसे—इदं न मम ।।१।।[2] इस से एक,

ओं समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् । आस्मिन् हव्या जुहोतन स्वाहा ।। इदमग्नये—इदं न मम ।।२।।[3] इस से और

ओं सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन । अग्नये जातवेदसे स्वाहा ।। इदमग्नये जातवेदसे—इदं न मम ।।३।। इस मन्त्र से अर्थात् दोनों मन्त्रों से दूसरी,

---

१. आश्व० गृ० १।१०।१२।। २. द्र० समिधाग्नि० अगला मन्त्र ।

३. इस मन्त्र से समिधा की आहुति नहीं दी जाती । उस अवस्था में 'स्वाहा । इदमग्नये······' अंश के बोलने न बोलने के सम्बन्ध में तथा इन चार मन्त्रों के विषय में अन्त में परिशिष्ट नं० १ देखें । यहां हमने 'संस्कार-विधि' के अनुसार पाठ छापा है ।

ओं तं त्वा स॒मिद्भि॑रङ्गिरो घृ॒तेन॑ वर्धयामसि । बृ॒हच्छो॑चा यविष्ठ्य स्वाहा॑ ।। इदमग्नयेऽङ्गिरसे—इदं न मम ।।४।।

[1]यजुः अ० ३। मं० १-३।।

१. पदार्थ—

अयम्—यह
[2]ते—उसका
[3]इध्मः—समिधा
[4]आत्मा—शरीर [है]
[3]जातवेदः—उत्पन्न हुए पदार्थों को प्रकाशित करने वाला जो अग्नि
तेन—उससे
[3]इध्यस्व—प्रदीप्त होता है
[3]वर्धस्व—बढ़ता है
च—और
[5]इद्ध—प्रकाशित करता है=तेजस्वी करता है
वर्धय—बढ़ाता है
च—और
अस्मान्—हमको

---

१. ध्यान रहे कि यह जो पता दिया गया है, वह केवल मन्त्रों का ही है। तत्तत् स्थानों में 'स्वाहा' 'इदं न मम' आदि मन्त्र-गत पाठ नहीं है। इसी प्रकार आगे भी सर्वत्र समझना चाहिए ।।

२. ऋषि दयानन्द के मन्त्रार्थ-दर्शन के अनुसार भौतिक पदों से सम्बद्ध संबोधन प्रथमा विभक्ति के अर्थ में और मध्यम पुरुष की क्रिया प्रथम पुरुष के अर्थ में परिवर्तित हो जाती है। इसलिए यहां इसी नियम के अनुसार मन्त्रार्थ किया गया है। आगे भी इसी प्रकार जानें।

३. इध्म का मूल अर्थ है—प्रकाश करनेवाला। भौतिक अग्नि काष्ठ=समित् को पाकर प्रकाशित होता है।

४. आत्मा शब्द शरीर का भी वाचक है। घातयत्यात्मानमात्मना इत्यादि वाक्यों में आत्मानं पद शरीर का बोधक है (द्र० महाभाष्य १।२।) काष्ठ भी अग्नि का शरीर=आश्रय है।

५. अन्तर्भावितण्यर्थ यहां जानना चाहिए।

प्रजया—प्रजा से
पशुभिः—पशुओं से
ब्रह्मवर्चसेन—ब्रह्मवर्चस्तेज से
[1]अन्नाद्येन—भोग्य पदार्थों के भोग सामर्थ्य से
समेधय—बढ़ाता है
स्वाहा—इस अग्नि को बढ़ाने के लिए समिधा की आहुति देता हूं।
इदम्—यह आहुति
अग्नये—अग्नि के लिए
जातवेदसे—जातवेदा नाम वाले के लिए [है]
इदम्—यह आहुति
न—नहीं [है]
मम—मेरी ॥१॥

भावार्थ—यह [यज्ञ में] प्रकाशित होने वाला अग्नि जिस प्रकार समिधा को पाकर चमकता और बढ़ता है, उसी प्रकार यह भौतिक अग्नि हमारे द्वारा यथोचित रूप में व्यवहार में प्रयुक्त हुआ हमें प्रजा पशु धनधान्य तेज यश और भोग-सामर्थ्य से बढ़ाता है। ऐसे गुण वाले अग्नि को तीव्र करनें के लिए मैं यह समिधा की आहुति देता हूं। यह उस प्रकाश करनेवाले अग्नि को बढ़ाने के लिए है, मेरी नहीं है। अर्थात् यह यज्ञीय पदार्थ उस प्रभु का ही दिया हुआ है, जिसने अग्नि को उत्पन्न किया है।

अध्यात्म-परक—हे प्रभो! जैसे आप के द्वारा उत्पादित यह भौतिक अग्नि अपने भक्ष्य=समिधा को प्राप्त होकर बढ़ता है, वैसे ही हम भी आप के द्वारा प्रदत्त भोग्य पदार्थों को यथोचित रूप से सेवन करके सब प्रकार से बढ़ें। यह हमारी वृद्धि अपने स्वार्थ के लिए न हो, परोपकार के लिए ही होवे ॥१॥

२. पदार्थ—

समिधा—समिधा के द्वारा
अग्निम्—अग्नि की
दुवस्यत—परिचर्या=प्रज्वालन करो, प्रज्वलित करें

---

१. अन्न=भोग्य पदार्थ+अद्य=भक्षण सामर्थ्य।

घृतैः— घृताहुतियों से
बोधयत—जागृत करो, जागृत करें
अतिथिम्—सदा प्राप्त होने वाले को
आ— सब ओर से
अस्मिन्—इस अग्नि में
हव्या—हवनीय पदार्थों को
जुहोतन—डालो, डालें
स्वाहा—यह समिधा की आहुति अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए देता हूं।
इदम्—यह आहुति
अग्नये—अग्नि के लिए [है]
इदम्—यह आहुति
न—नहीं [है]
मम—मेरी ॥२॥

भावार्थ—समिधा और घृत के द्वारा अग्नि प्रज्वलित होता है, इसलिए हम घृतयुक्त समिधा से यज्ञीय अतिथिरूप अग्नि को प्रज्वलित=प्रकाशित=तीव्र करते हैं। यह आहुति अग्नि के लिए है, मेरी नहीं है, अर्थात् यज्ञीय द्रव्य प्रभु के ही दिए हुए हैं।

विशेष—यहां से आगे 'इदम् न मम' अंश का बार बार अर्थ नही किया जायेगा। सर्वत्र उस उस मन्त्र के देवता से सम्बद्ध इसी प्रकार का अर्थ समझें ॥२॥

३. पदार्थ—

सु-सम्-इद्धाय—अच्छे प्रकार प्रदीप्त के लिए
शोचिषे—ज्वालायुक्त के लिए
घृतम्—घी को
तीव्रम्—उत्कृष्ट को
जुहोतन—होम करो, होम करता हूं
अग्नये—अग्नि के लिए
जातवेदसे—उत्पन्न हुई वस्तुओं का ज्ञान कराने वाले के लिए
स्वाहा—यह समिधा की आहुति देता हूं।
आगे—'इदम् अग्नये जातवेदसे—इदं न मम' पूर्ववत् ॥३॥

भावार्थ—अच्छे प्रकार प्रदीप्त एवं ज्वालायुक्त जातवेदाः अग्नि के लिए तीव्र=उत्कृष्ट घृत का होम करता हूं। यह होम जातवेदा अग्नि के लिए है, मेरा नहीं है, अर्थात् यज्ञीय द्रव्य प्रभु के ही दिये हुए हैं।

विशेष—मन्त्र में तीव्र घृत की आहुति देने का विधान किया है। इसी के आधार पर ऋषि दयानन्द ने घृत के गुणों को बढ़ाने के लिए उसमें केशर कस्तूरी मिलाने का विधान किया है ॥३॥

४. पदार्थ—

तम्—उसको
त्वा—तुझ को
समिद्भिः—समिधाओं से
[1]अङ्गिरः—वस्तुमात्र को प्राप्त होने वाला जो अग्नि
घृतेन—घृत से
वर्धयामसि—बढ़ाते हैं।
बृहद्—बहुत
शोच—प्रदीप्त होता है
[2]यविष्ठच—अतिशय करके सबको अलग अलग करने वालों में भी उत्तम
स्वाहा—यह समिधा की आहुति देता हूं।
आगे—'इदम् अग्नये अङ्गिरसे—इदम् न मम' पूर्ववत् ॥४॥

भावार्थ—वस्तुमात्र में व्याप्त होनेवाले और पदार्थों को पृथक् पृथक् दर्शानेवाले अग्नि को समिधा से बढ़ाता हूं। यह आहुति अङ्गिरा अग्नि के लिए है, मेरी नहीं है।

---

१. अगि (अङ्ग्) गतौ+इरसि(उणा० ४।२३६)। गतिः—ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च।

२. यु मिश्रणे अमिश्रणे च। यु+अच्—अतिशये इष्ठन्। यविष्ठेषु साधु—यत्।

विशेष—वैदिक वाङ्मय में जहां क्रमशः भू अन्तरिक्ष द्युलोकों की अग्नि का निर्देश होता है, वहां निर्विशेषण अग्नि भूलोकीय, जातवेदा अग्नि अन्तरिक्ष-स्थानीय और अङ्गिरा अग्नि द्युस्थानीय जाननी चाहियें। अन्तरिक्ष-स्थानीय अग्नि है—विद्युत, जो रात्रि के अन्धकार में छिपे हुए विद्यमान वस्तुओं का ज्ञान कराता है। अङ्गिरा अग्नि द्युस्थानीय है, वह अपने प्रकाश से सबको प्राप्त होता है। इस अग्नि का एक विशेषण **यविष्ठच** है। सभी अग्नियां अपने अपने प्रकाश द्वारा पदार्थों की पृथकता का ज्ञान कराती हैं, परन्तु भौतिक अग्नि का क्षेत्र बहुत स्वल्प है, विद्युत् का उससे विस्तृत है, और सूर्य का अत्यन्त महान् है। अतः यह द्युलोकस्थ अग्नि 'यविष्ठच' है ॥४॥

पञ्च-घृताहुति-मन्त्र

विनियोग—नीचे लिखे मन्त्र से घृत की पांच आहुतियां देवें—

ओम् अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा ॥ इदमग्नये जातवेदसे—इदं न मम ॥१॥

आश्व० गृ० १।१०।१२॥

इस मन्त्र का अर्थ पूर्व पृष्ठ ७६-७७ पर देखें। पूर्व समिधा के आधान में विनियुक्त होने से वहां इध्म का अर्थ काष्ठ-समिधा किया था, यहां इध्म से घृत का ग्रहण करना चाहिए। इध्म (इन्धी दीप्तौ+मन्) का मूल अर्थ है—प्रदीप्त करने वाला द्रव्य। वह विनियोग या प्रकरण-भेद से भिन्न भिन्न हो सकता है।

पांच आहुतियां क्यों—इस शरीर-स्थानीय अग्नि=आत्मा का इध्म (घृत—घृ क्षरणदीप्तयोः) है वीर्य। इसीलिए वीर्यवान् बलवान् होता है। आयुर्वेद के मतानुसार यही वीर्य ऊर्ध्वगति करता हुआ=

सूक्ष्म होता हुआ—ओज नाम को धारण करता है[1]। यही ओज मस्तिष्क में ब्रह्मगुहा में क्षरित होता है[2], और इसी ब्रह्मगुहा के किनारे ज्ञानेन्द्रियों के सूक्ष्म तन्तु संबद्ध हैं। इस ओज से ही सभी इन्द्रियां एवं शरीर कान्तिमय होता है। शरीर में पांच ज्ञानेन्द्रियों की प्रमुखता की दृष्टि से पांच बार घृताहुति देने का विधान है। इससे यज्ञकर्त्ता को यह भावना करनी चाहिए कि जैसे घृताहुतियों से यह अग्नि बढ़ती है, वैसे ही वीर्य=ओजरूप आहुतियों से मेरी पांचों ज्ञानेन्द्रियां यावज्जीवन बलवान् रहें।

जल-सिञ्चन-मन्त्र

विनियोग—निम्न मन्त्रों से अग्निकुण्ड के चारों ओर क्रमशः पूर्व पश्चिम उत्तर और दक्षिण दिशा में हाथ की अञ्जलि में जल लेकर सिञ्चन करे—

ओम् अदितेऽनुमन्यस्व ॥१॥ इस मन्त्र से पूर्व,

ओम् अनुमतेऽनुमन्यस्व ॥२॥ इससे पश्चिम,

ओं सरस्वत्यनुमन्यस्व ॥३॥ इससे उत्तर, और

गोभिल गृ० प्र० १। खं० ३। सू० १--३॥

ओं देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।

दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु।४।

यजुः अ० ३०। मं० १॥

इस मन्त्र से [दक्षिण से लेकर] चारों ओर।

---

१. इसी वीर्य अपरनाम ओज के विन्दुनाश से मरण की सम्भावना दर्शाई है—मरणं विन्दुपातेन।

२. यही ओज अध्यात्म में सोम है, इसी का माहात्म्य ऋग्वेद के सम्पूर्ण नवम मण्डल में वर्णित है। अधिदेव में यह सोम जलों का वह सूक्ष्मतम भाग

पदार्थ—

[१]अदिते—संयोग गुण वाला जल [पूर्व दिशा में]
अनु—[यज्ञीय अग्नि के] अनुकूल
मन्यस्व—होवे, नाशक न होवे ॥१॥

अनुमते—अनुकूल रहने वाला जल [पश्चिम दिशा में]
अनु—[यज्ञीय अग्नि के] अनुकूल
मन्यस्व—होवे, नाशक न होवे ॥२॥

[२]सरस्वति—गतिशील जल [उत्तर दिशा में]
अनु—[यज्ञीय अग्नि के] अनुकूल
मन्यस्व—होवे, नाशक न होवे ॥३॥

देव—दिव्य गुण वाला
[३]सवितः—सबका प्रेरक जल
प्रसुव—सबको प्रेरित करता है
यज्ञम्—यज्ञ=प्रत्येक शुभ कर्म को
[३]प्रसुव—प्रेरित करता है।

यज्ञपतिम्—यज्ञ के स्वामी यजमान को
भगाय—ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए
दिव्यः—दिव्य शक्तियों वाला
[४]गन्धर्वः—पृथिवी को धारण करने वाला

है. जो सूर्य-किरणों के द्वारा सूर्य तक पहुंचता है। इन्हीं अध्यात्म और आधिदैविक सोमों का प्रतिनिधि यज्ञ में सोमवल्ली नामक ओषधि विशेष है।

१. दो अवखण्डने+ति=दिति, न+दिति=अदिति।

२. सृ गतौ+असुः—सरः=गतिः, सरस्+वत्+ङीप्=गतिमत्य आपः।

३. षु प्रेरणे तौदादिक।

४. गां पृथिवीं धरतीति गन्धर्वः। पृथिवी का मूल आधार जल है।

[1]केतपूः—शरीर को पवित्र करने वाला	[2]वाचस्पतिः—वाणी का स्वामी
केतम्—शरीर को	वाचम्—वाणी को
नः—हमारे	नः—हमारी
पुनातु—पवित्र करता है।	स्वदतु—मधुर करे ॥४॥

भावार्थ—यज्ञकुण्ड के चारों ओर सिंचन किया हुआ जल अग्नि की रक्षा करता है। जल यज्ञ का प्रेरक है, यज्ञपति को ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए प्रेरणा देता है। वह शरीर का शोधक है, और वाणी में मधुरता उत्पन्न करने वाला है।

विशेष—मन्त्र के **यज्ञं प्रसुव** पदों के आधार पर ही ऋषियों ने यज्ञकर्म के आरम्भ में आचमन का विधान किया है। **अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति** (मनु ५।१०९) वाक्य **केतपूः केतं नः पुनातु** का ही व्याख्यान है। कण्ठ के रूक्ष (शुष्क) हो जाने से बोलने में जो कठिनता होती है, वह जल के पान से दूर होती है। अतः जल वाणी का पालक रक्षक है, और उसको मधुर बनाने वाला है।

जल छिड़कने का प्रयोजन—आधुनिक विद्वान् इस जल-सिञ्चन का प्रयोजन यज्ञकुण्ड से कीट-पतङ्गों की रक्षा बताते हैं, और इसी लिये वे कुण्ड के चारों ओर एक नाली बना देते हैं, जिसका शास्त्रों में कहीं उल्लेख नहीं है। वैदिक विज्ञान के अनुसार हमारी यज्ञवेदि पृथिवी-स्थानीय है[3]। पृथिवी सब ओर से जल से घिरी हुई है।

---

१. चिञ् चयने+त, आदि को कुत्व, यथा काय शब्द में, द्र० अष्टाध्यायी ३।३।४१।

२. इसी कारण अनेक व्याख्याता व्याख्यान के मध्य में कण्ठ-शुद्धि के लिए जल का प्रयोग करते हैं।

३. इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः। यजुः २३।६२। तस्मादाहुः—यावती वेदिस्तावती पृथिवी॥ शत० १।२।५।७॥ एतावती वै पृथिवी यावती वेदिः। तै० ब्रा० ३।२।९।१२॥

उसी का अनुकरण यहां यज्ञ में जलसिंचन के रूप में किया जाता है ॥४॥

आधारावाज्यभागाहुति-मन्त्र

आधाराहुति

विनियोग—निम्न मन्त्रों से क्रमशः कुण्ड के उत्तरभाग में और दक्षिणभाग में आज्य से आहुति देवें—

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदं न मम ॥ १ ॥

इस मन्त्र से वेदि के उत्तरभाग की अग्नि में,

ओं सोमाय स्वाहा ॥ इदं सोमाय—इदं न मम ॥ २ ॥

इस मन्त्र से वेदि के दक्षिणभाग में,

गो० गृ० प्र० १ । खं० ८ । सू० २४ ॥

पदार्थ—

अग्नये—अग्नि के लिए
स्वाहा—इस होमीय द्रव्य का त्याग करता हूं ॥१॥

सोमाय—सोम के लिए
स्वाहा—इस होमीय द्रव्य का त्याग करता हूं ॥२॥

भावार्थ—मैं यज्ञीय द्रव्य घृत से उत्तर और दक्षिण दिशा के अग्नि और सोम देवों के लिए ये घृताहुतियां देता हूं ॥१-२॥

आज्यभागाहुति

विनियोग—निम्नलिखित मन्त्रों से यज्ञकुण्ड के मध्य में आज्य से दो आहुतियां देवें—

ओं प्रजापतये स्वाहा[1] ॥ इदं प्रजापतये—इदं न मम ॥१॥

ओम् इन्द्राय स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय—इदं न मम ॥२॥

---

१. यद्यपि ऋषि दयानन्द ने इस आहुति को मौनरूप से देने का विधान नहीं किया, तथापि इसे मौन होकर ही देना चाहिये [सभी सूत्रकारों का यही

पदार्थ—

प्रजापतये—प्रजापति के लिए
स्वाहा—इस होमीय द्रव्य का
त्याग करता हूं ।।१।।

इन्द्राय—इन्द्र के लिए
स्वाहा—इस होमीयं द्रव्य
की आहुति देता हूं ।।२।।

भावार्थ—मैं यज्ञीय द्रव्य घृत से केन्द्र के प्रजापति और इन्द्र देवों के लिए आहुतियां देता हूं ।।१-२।।

विशेष—कर्मकाण्ड के प्राचीन आर्षग्रन्थों को, जिन्हें ऋषि दयानन्द प्रमाण मानते हैं, देखने से विदित होता है कि 'संस्कारविधि' में इस प्रकरण में 'आघाराहुति' और 'आज्यभागाहुति' के मन्त्र और उनकी आहुतियों से सम्बद्ध निर्देश की पंक्तियां ऊपर नीचे अस्थान में रखी गई हैं[1]। इनमें प्रथम आघार के मन्त्र—

ओं प्रजापतये स्वाहा । इदं प्रजातये--इदं न मम ।।

ओम् इन्द्राय स्वाहा । इदमिन्द्राय--इदं न मम ।।

इन दो मन्त्रों से वेदि के मध्य भाग में दो आहुतियां देनी' पाठ होना चाहिए, और पश्चात् आज्यभागाहुति से सम्बद्ध—

ओम् अग्नये स्वाहा । इदमग्नये--इदं न मम ।।

इस मन्त्र से वेदि के उत्तर भाग में,

मत है] । ऋषि दयानन्द ने भी स्विष्टकृदाहुति के पश्चात् पठित प्राजापत्याहुति को 'मन में बोल कर देने' का विधान किया है। ब्राह्मणग्रन्थों में सभी प्राजापत्याहुतियों के मन में बोलकर देने का निर्देश किया है—यद्वेवोपांशुः प्राजापत्यं वा एतत्कर्म,……अनिरुक्तो वै प्रजापतिः । शत० ६।२।२।२१।।

१ द्र० कात्या० श्रौत—पूर्वाघार (३।१।१२); उत्तराघार (३।२।१); आज्यभाग (३।३।१०) टीकाएं भी। तै० श्रौ० पूर्वाघार (२।१२।७); उत्तराघार (२।१४।१); आज्यभाग (२।१८।१,५,६) टीकाएं भी। आज्यभागाहुति—गोभिलगृह्य (१।८।४,५)।

ओम् सोमाय स्वाहा । इदं सोमाय--इदं न मम ॥

इस मन्त्र से वेदि के दक्षिण भाग में……।

इसी प्रकार पाठ का वैपरीत्य इन मन्त्रों से पूर्व की भाषा में भी हो गया है ।

आधाराहुतियों का स्थान और प्रकार—यद्यपि ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में आघाराहुतियों का स्थान यज्ञकुण्ड का उत्तर और दक्षिणभाग लिखा है । हमने जैसा पाठशोधन दर्शाया है, तदनुसार उनका स्थान वेदि का मध्यभाग होता है । यह यद्यपि ठीक है, पुनरपि इन आहुतियों के लिए शास्त्रकारों ने लिखा है--प्राञ्चमृजुं सन्ततं ज्योतिष्मत्याघारमधारयन्……(तै० श्रौ० २।१२।७ तथा द्र० शाबरभाष्यमीमांसा २।२।१३ में उद्धत वचन) । इन का भाव यह है कि प्रथम आघार प्रज्ज्वलित अग्नि के मध्य दक्षिण ओर, द्वितीय आघार प्रज्ज्वलित अग्नि के मध्य उत्तर की ओर देना चाहिए। ये आहुतियां कुण्ड के पश्चिम भाग से पूर्वभाग की ओर सीधी रेखा में देनी चाहियें, मध्य में घृत की धार टूटनी नहीं चाहिए । दोनों आघाराहुतियां आपस में मिलनी नहीं चाहियें । पक्षान्तर में मिली हुई देने का और तिरछी देने का भी विधान मिलता है । (तै० श्रौ० २।१२।८) । अर्थात् दोनों आघाराहुतियां कुण्ड के मध्यभाग में पश्चिम से पूर्व को देनी हैं । दोनों के मध्य में उतना ही अन्तर रहना चाहिए, जिससे वे परस्पर न मिलें ।

आज्यभागाहुति का स्थान—आज्यभागाहुति का स्थान शास्त्रकारों ने लिखा है—उत्तरार्धपूर्वार्धेऽग्नये जुहोति, दक्षिणार्धपूर्वार्धे सोमाय (तै० श्रौ० २।१८।५।६); अग्नये स्वाहेत्युत्तरतः सोमाय स्वाहेति दक्षिणतः प्राक्शो जुहुयात् (गो० गृ० १।८।५) । इन प्रमाणों के अनुसार अग्नये स्वाहा से समिद्ध अग्नि के उत्तर भाग में या आग्नेय कोण में, सोमाय स्वाहा से दक्षिणभाग में या ईशान कोण में आहुति देनी चाहिए ।

इति आधान-प्रकरण ॥

दैनिक अग्निहोत्र की प्रधान आहुतियाँ

प्रातःकालीन आहुतियों के मन्त्र

विनियोग=नीचे लिखे मन्त्रों से प्रातः काल आहुतियां देवें—

ओं सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा ॥१॥

ओं सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥२॥

ओं ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ॥३॥

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या ।

जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥४॥ यजुः ३।९-१० ॥

पदार्थ—

सूर्यः—सूर्य
ज्योतिः—प्रकाशस्वरूप [है]
ज्योतिः—प्रकाशस्वरूप
[ही जो]
सूर्यः—सूर्य [है उसके लिए]
स्वाहा—मैं यह यज्ञीय द्रव्य
की आहुति देता हूं १॥

सूर्यः—सूर्य
वर्चः—दीप्तिस्वरूप [है]
ज्योतिः—प्रकाश [ही जिसकी]
वर्चः—दीप्ति [है उस सूर्य
के लिए]
स्वाहा—मैं यह यज्ञीय द्रव्य
को आहुति देता हूं ॥२॥

ज्योतिः—ज्योति [ही]
सूर्यः—सूर्य [है]
सूर्यः—सूर्य [ही]
ज्योतिः—ज्योति [है उसके
लिए]
स्वाहा—मैं यह यज्ञीय द्रव्य
की आहुति देता हूं ॥३॥

सजूः—साथ
देवेन—देव के
सवित्रा—प्रेरक के

सजूः—साथ
उषसा—निद्रा अन्धकार को नाश करने वाली उषा के
इन्द्रवत्या—प्रकाशवाली के
जुषाणः—प्रीति रखने वाला
सूर्यः—सूर्य
वेतु—अपने प्रकाश से व्याप्त होता है [उसके लिए]
स्वाहा—यह हव्य पदार्थ देता हूं ॥४॥

भावार्थ=संसार में सूर्य ही प्रकाश और कान्ति-दीप्ति का हेतु है। उसके बिना स्थावर वृक्षादि एवं जंगम प्राणियों के शरीर म्लान=कान्तिरहित हो जाते हैं। वही सूर्य सब का प्रेरक और निद्रा वा अन्धकार को नाश करने की शक्ति से युक्त है। हम उस सूर्यदेव से प्रेरणा प्राप्त करके आत्मप्रकाश वा आत्मप्रेरणा के लिये ये आहुतियां देते हैं। इनसे हम स्वयं सूर्य के समान आत्मप्रकाश एवं प्रेरक बन कर मानव मात्र के प्रकाशक एवं प्रेरक बनें ॥१-४॥

सायंकालीन आहुतियों के मन्त्र

विनियोग—नीचे लिखे मन्त्रों से सायंकाल आहुतियाँ देवें—

[**विशेष**—यदि दोनों समय का अग्निहोत्र एक ही समय करना हो तो प्रातःकालीन आहुतियों के बाद ही ये आहुतियां देनी चाहियें]

ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥१॥

ओम् अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥२॥

ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥३॥

इस तीसरे मन्त्र को मन में उच्चारण करके तीसरी आहुति देनी चाहिये।

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या ।
जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा ॥४॥ यजु० अ० ३। मं० ९, १० ॥

पदार्थ—

अग्निः—अग्नि
ज्योतिः—प्रकाशस्वरूप [है]
ज्योतिः—प्रकाशस्वरूप [ही जो]
अग्निः—अग्नि [है उसके लिए]
स्वाहा—मैं यह यज्ञीय द्रव्य की आहुति देता हूं ॥१॥

अग्निः—अग्नि
वर्चः—दीप्तिस्वरूप [है]
ज्योतिः—प्रकाश ही [जिसकी]
वर्चः—दीप्ति [है उस अग्नि के लिए]
स्वाहा—मैं यह यज्ञीय द्रव्य की आहुति देता हूं ॥२॥

तृतीय मन्त्र प्रथम की ही पुनरुक्ति है, संख्या-पूर्त्यर्थ[1] ॥३॥

सजूः—साथ
देवेन—देव के
[2]सवित्रा—प्रेरक के
सजूः—साथ
रात्र्या—रात्रि के
[3]इन्द्रवत्या—प्रकाशवाली के
जुषाणः—प्रीति रखने वाला
अग्निः—अग्नि
वेतु—अपने प्रकाश से व्याप्त होता है [उसके लिए]
स्वाहा—यह हव्य पदार्थ देता हूं ॥४॥

---

१. मूल वेद में सायंकालीन अग्निहोत्र का तीसरा मन्त्र नहीं है। प्रातः सायं दोनों समय की आहुतियों की संख्या बराबर करने के लिए प्रथम मन्त्र की पुनरुक्ति की है। जामित्व='एक जैसा' दोष की निवृत्यर्थ इस मन्त्र से मन में उच्चारण करके आहुति दी जाती है।

२. 'सवित्रा' पद प्रातः सायं दोनों काल के मन्त्रों में समान है। अतः इस का धात्वर्थ (षू प्रेरणे) प्रेरकत्व ही यहां अभिप्रेत है।

३. प्रातः कालीन और सांय कालीन दोनों मन्त्रों में इन्द्रवत्या पद समान है। प्रातः कालीन मन्त्र में उषा को इन्द्रवती कहा है। उषा प्रभूत प्रकाश से युक्त होती है। अतः वहां भूमा=प्राचुर्य अर्थ में मतुप जानना चाहिए। सायंकालीन मन्त्र में रात्रि को इन्द्रवती कहा है। रात्रि में चन्द्र तारों आदि से प्राप्त प्रकाश की मात्रा बहुत स्वल्प होती। अतः यहां अल्पार्थ में या अविवक्षा में मतुप् जानना चाहिए। द्र०—भूमनिन्दाप्रशंसासु (महा० ५।२।९४) वचन।

भावार्थ—रात्रि के समय अग्नि ही प्रकाश और कान्ति-दीप्ति का हेतु होता है। उसके बिना प्राणि अपने व्यवहारों में असमर्थ हो जाता है। हम उस अग्नि देव से प्रेरणा प्राप्त करके आत्मप्रकाश एवं आत्मप्रेरणा के लिये ये आहुतियां देते हैं। इन से हम स्वयं अग्नि के समान स्वयंप्रकाश एवं प्रेरक बनकर मानवमात्र के प्रकाशक प्रेरक एवं नेता बनें ॥१-४॥

अध्यात्म-पक्ष—में सूर्य अग्नि चराचर जगत् के प्रेरक उत्पादक वा प्रकाशक प्रभु के नाम हैं। इन मन्त्रों से प्रभु के विविध स्वरूपों का ध्यान करते हुए उसके दिये भोग-पदार्थों को उसे ही समर्पित करते हुए उसके अनन्य उपासक बनें।

दोनों काल के समान मन्त्र

विनियोग--निम्नलिखित मन्त्रों से प्रातः व सायं दोनों समय प्रातःकालीन वा सायंकालीन विशेष आहुतियों के पश्चात् [एक ही समय हवन करना हो तो प्रातःसायं की विशेष आहुतियां इकट्ठी देकर] दोनों समय की सामान्य आहुतियां देवें—

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ॥ इदमग्नये प्राणाय—इदं न मम ॥१॥
ओं भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा ॥ इदं वायवेऽपानाय—इदं न मम॥२॥
ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा। इदमादित्याय व्यानाय इदं न मम
ओंभूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ॥
इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्य—इदं न मम ॥४॥

पदार्थ—

भूः—पृथिवी-स्थानीय
अग्नये—अग्नि के लिए
प्राणाय—प्राणस्वरूप के
लिए
स्वाहा—यह आहुति देता हूं ॥१॥

भुवः—अन्तरिक्ष-स्थानीय
वायवे—वायु के लिए
अपानाय—दुःखों को दूर करने वाले के लिए
स्वाहा—यह आहुति देता हूं ॥२॥

स्वः—द्युस्थानीय
आदित्याय—आदित्य केलिए
व्यानाय—सुख देने वाले के लिए
स्वाहा—मैं यह आहुति देता हूं ॥३॥

भूः—पृथिवी स्थानीय
भुवः—अन्तरिक्ष-स्थानीय
स्वः—द्युलोक-स्थानीय
अग्निवाय्वादित्येभ्यः—अग्नि वायु और आदित्य तीनों के लिए
स्वाहा—मैं यह आहुति देता हूं ॥४॥

भावार्थ—मैं यह आहुति पृथिवी-स्थानीय अग्नि के लिये, अन्तरिक्ष-स्थानीय वायु के लिये, द्यु-स्थानीय आदित्य=सूर्य के लिये एवं तीनों स्थानों के अग्नि-वायु-आदित्य तीनों सम्मिलित देवों के लिये देता हूं।

इन आहुतियों को देते समय यजमान को चाहिये कि जैसे पृथिवी-स्थानीय अग्नि पृथिवीस्थ पदार्थों को प्राण शक्ति देने वाला है, जैसे अन्तरिक्ष-स्थानीय वायु अपनी गति द्वारा मलों को दूर करके दुःखों को दूर करता है, और जैसे द्युस्थानीय आदित्य स्वयं ग्रहण किए हुए रसों=जलों को वर्षा द्वारा वापस देकर संसार को सुख देता है, या तीनों शक्तियां मिलकर जैसे स्थावर जंगम जगत् का उपकार करती हैं, उसी प्रकार मैं भी क्रमशः उन्नत होते हुए अग्नि के समान लोक में प्राणवत् प्रिय बनूं; वायु के समान लोक में दुःखों को दूर करूं, और आदित्य के समान अपने पुरुषार्थ से संगृहीत भोग्य पदार्थों को मानवों में बांटकर उन्हें सुख देने वाला बनूं; अथवा तीनों शक्तियां मुझे प्राप्त होने पर सभी प्रकार से मानव की सेवा करूं।

इसी भावना को उद्दीपन करने के लिये ये चार आहुतियां प्रतिदिन दी जाती हैं।

उभयकालीन समर्पण-मन्त्र

विनियोग—यजमान दैनिक यज्ञ के अन्त में निम्न मन्त्र से स्वकृत कर्म को सर्वरक्षक प्रभु को समर्पित करे—

ओम् आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा ॥

पदार्थ—

आपः—सर्वव्यापक
ज्योति—सर्वप्रकाशस्वरूप
रसः[1]—सब से स्नेह रखने वाला
अमृतम्—नाशरहित
ब्रह्म—सबसे महान्
भूः—प्राणवत् प्रिय
भुवः—दुःखों को दूर करने वाला
स्वः—सुखस्वरूप [जो]
ओम्—सब का रक्षक प्रभु [है उसके लिए]
स्वाहा—यह आहुति देते हैं, उसका पदार्थ उसे ही समर्पित करते हैं ॥

भावार्थ—हे प्रभो ! आप सर्वव्यापक, सर्वप्रकाशक, सबसे स्नेह रखने वाले दयालु, नाशरहित, सबसे महान्, प्राणों के समान प्रिय, त्रिविध तापों के हरने वाले एवं सुख देने वाले हमारे रक्षक=स्वामी हो। ये सभी भोग पदार्थ आप के ही दिये हुए हैं। मैं आपके दिये घृत आदि पदार्थ इस कर्म के द्वारा आपको ही समर्पित करता हूं। आप ही हमारे जीवनाधार हैं। यह जीवन जो आपकी दया से यज्ञीय बन गया है, आप को ही समर्पित करता हूं ॥

उभयकालीन प्रार्थना-मन्त्र

विनियोग—प्रभु को अपने समस्त पदार्थों को और अपने आप

१. रस आस्वादनस्नेहनयोः+अच्=रसः।

को समर्पित करके, 'यह भावना सदा बनी रहे' इस के लिये निम्न मन्त्रों से प्रभु से प्रार्थना करे—

ओं यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥१॥
यजुः अ० ३२। मं० १४॥

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद् भद्रं तन्न आ सुव स्वाहा ॥२॥
यजुः अ० ३०। मं० ३॥

ओम् अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम स्वाहा ॥३॥
यजुः अ० ४०। मं० १६॥

पदार्थ—

याम्—जिस
मेधाम्[१]—अपने स्वरूप को धारण करने वाली, जानने वाली बुद्धि को
देवगणाः—दिव्य गुणों वाले मेधावी जन
पितरः—अज्ञान अन्धकार को दूर करके संसार के रक्षा करने वाले
च—और
उपासते—उपासना=चाहना करते हैं
तया—उस से

२. 'मे'=माम् धा दधाति धारयतीति। 'मे' यह चतुर्थ्यन्त शब्द के समान निपात चादिगण (अष्टा० १।४।५७) में पढ़ा है।

माम्—मुझ को
अद्य—आज
मेधया—मेधा से
अग्ने—हे प्रकाशक देव !
मेधाविनम्—मेधा वाला
कुरु—करो=बनाओ, [इस के लिए]
स्वाहा—मैं यह आहुति देता हूं, आप से प्रार्थना=याचना करता हूं ।।१।।

भावार्थ—हे प्रकाशस्वरूप प्रभो ! दिव्य गुणों वाले श्रेष्ठ जन और ज्ञान द्वारा रक्षक पितर जिस मेधाबुद्धि की उपासना=चाहना =याचना करते हैं, उसी मेधा=श्रेष्ठ बुद्धि से आज मुझे भी युक्त कीजिये । इसी के लिये मैं आप से प्रार्थना करता हूं ।।१।।

विश्वानि देव० मन्त्र की व्याख्या पूर्व ६१ पृष्ठ पर देखें ।।२।।

अग्ने नय० मन्त्र की व्याख्या पूर्व ६५ पृष्ठ पर देखें ।।३।।

इस प्रकार यजमान प्रभु से मेधा, सद्गुण एवं शुद्ध मार्ग से उपार्जित धन सम्पत्ति की प्रार्थना करके इस नैत्यिक अग्निहोत्र को पूर्ण करे ।

पूर्णाहुति-मन्त्र

विनियोग—निम्न मन्त्र को तीन बार बोलकर पूर्णाहुति करे—

ओं सर्वं वै पूर्ण॑ स्वाहा ।।

पदार्थ—

ओम्—सर्वव्यापक प्रभु से
सर्वम्—सकल चराचर जगत्
वै—निश्चय से
पूर्णम्—व्याप्त [है उसको]
स्वाहा—मैं यथार्थ रूप में जानता हूं, या जानने के लिए प्रयत्नशील होता हूं ।।

भावार्थ—मैं सर्वव्यापक प्रभु से सकल जगत् को पूर्ण=व्याप्त जानता हूं। इस कारण वह हमारे मानसिक वाचिक और कायिक सभी कर्मों को, चाहे हम कितने ही एकान्त में क्यों न करें, जानता है। अतः हमें प्रभु को सर्वव्यापक जानकर पापकर्मों से दूर रहना चाहिये।

अथवा इस मन्त्र का भाव इस प्रकार समझें—पूर्ण ब्रह्म से उत्पन्न (सर्वम्) गति करने वाला[1] यह सारा ब्रह्माण्ड (वै) निश्चय से (पूर्णम्) पूर्ण है, उसमें कहीं कोई कमी-न्यूनता नहीं है। उसी प्रकार हमे भी उस पूर्ण ब्रह्म के साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर पूर्ण बनने का प्रयत्न करना चाहिये॥

तीन आहुतियों का कारण—संस्कृत भाषा में तीन संख्या बहुत्व का बोधन कराती है, और एक ही बात बार-बार कहने से उसके निश्चय को दृढ़ करती है। लोक में भी नीलामी के समय नीलाम करने वाला "......रुपया एक,......रुपया दो,......रुपया तीन" कहकर अपनी बेचने की स्वीकृति को सुदृढ़ कर देता है। इसी प्रकार यहां इस मन्त्र को तीन बार बोल कर तीन आहुतियां देकर यजमान अग्निहोत्र-कर्म से उपार्जित यज्ञीय भावना को सुदृढ़ करता है।

विशेष वक्तव्य

१--स्विष्टकृद् आहुति—नैत्यिक कर्म में स्विष्टकृद् आहुति आवश्यक नहीं होती है। इसलिये ऋषि दयानन्द ने भी दैनिक यज्ञ के प्रसंग में उसका निर्देश नहीं किया। यदि कोई देना चाहे तो पूर्णाहुति से पूर्व देवे।

२—अन्य मन्त्रों का समावेश—अनेक व्यक्ति अधिकस्याधिकं फलम् कहावत के अनुसार अनेक मन्त्रों का दैनिक यज्ञ में प्रयोग

---

१. सृ गतौ+वन्, सरति गच्छतीति सर्वं=ब्रह्माण्डम्।

करते हैं। उससे सामाजिक कर्म में एकरूपता नष्ट होती है। यदि कोई अधिक आहुतियां देना चाहे, तो ऋषि दयानन्द के निर्देशानुसार **गायत्री-मन्त्र** से जितनी चाहें उतनी आहुतियां देवें, अन्य मन्त्रों से नहीं। गायत्री-मन्त्र को भी **अग्ने नय सुपथा०** दैनिक कर्म के अन्तिम मन्त्र के पश्चात् पढ़कर उसमे आहुति देवें।

३—पूर्णाहुति के पश्चात् अन्य कुछ कर्तव्य नहीं—अनेक व्यक्ति पूर्णाहुति के पश्चात् **'वसो पवित्रमसि शतधारम्०**[1]**'** मन्त्र पढ़ कर अवशिष्ट घृत का अग्नि में प्रक्षेप करते हैं, यह ठीक नहीं है। जब हम तीन बार **सर्वं वै पूर्णं** कह चुके, तो उसके पश्चात् हव्य द्रव्य अवशिष्ट रहना ही नहीं चाहिये। अवशिष्ट हव्य द्रव्य की तृतीय मन्त्र से पूर्णाहुति कर देनी चाहिये।

४—भजन प्रार्थना आदि कर्म—यदि हम नैत्यिक कर्म विचार-पूर्वक करें, तो इस कर्म के मन्त्रों से ही सब अपेक्षित कार्य पूर्ण हो जाते हैं, परन्तु जो मन्त्रार्थ को पूरी तरह नहीं समझते, वे महानुभाव चाहें तो दैनिक अग्निहोत्र के अन्त में **यज्ञरूप प्रभो** आदि श्रेष्ठ भावनापूर्ण भजन बोल सकते हैं, उसमें कोई विरोध नहीं।

●●

दैनिक स्वाध्याय

हमने पूर्व (पृष्ठ५ में) लिखा है कि **ब्रह्मयज्ञ** के अन्तर्गत जो स्वाध्याय कर्म सम्मिलित है, उसको दैनिक अग्निहोत्र के पीछे करना चाहिये।

स्वाध्याय शब्द का अर्थ—स्वाध्याय के दो अर्थ हैं। एक है—**स्व+अध्याय:=स्वस्य अध्ययनम्**—अपने आप का अध्ययन करना,

---

१. इस मन्त्र का विनियोग **वसोर्धारा** कर्म में किया गया है, जो यज्ञ-विशेष में कर्तव्य है, न कि सर्वत्र।

अपने द्वारा किये गये शुभाशुभ कर्मों का लेखा जोखना और भविष्य में अशुभ कर्मों से बचने का प्रयत्न करना। यह अंश सन्ध्या के अन्तर्गत आ जाता है। दूसरा अर्थ है=सु आ अध्यायः=सब ओर से उत्तम ग्रन्थों का अध्ययन-मनन करना। इस अर्थ के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन कुछ समय निकाल कर उत्तम प्रेरणा-दायक ग्रन्थों का अध्ययन-मनन अवश्य करना चाहिये। यह कार्य सन्ध्या-अग्निहोत्र के पश्चात् किया जाये तो अधिक फलदायक होगा, क्योंकि इस समय मनुष्य की वृत्ति अधिक शान्त होती है।

स्वाध्याय के योग्य ग्रन्थ—स्वाध्याय शब्द का जो द्वितीय अर्थ दर्शाया है, उसके अनुसार सब से श्रेष्ठ ग्रन्थ वेद है। प्राचीन सभी आचार्य स्वाध्याय का अर्थ वेदाध्ययन ही मानते हैं। उन्हीं के मन्तव्यों का अनुसरण करनेवाले ऋषि दयानन्द ने भी—'**वेद का पढ़ना-पढ़ाना सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है**' ऐसा विधान किया है।

जो व्यक्ति वेद का स्वाध्याय नहीं कर सकते, उन्हें वेद के स्वाध्याय की योग्यता प्राप्त करने केलिए ऋषि दयानन्द के आर्याभिनय, सत्यार्थ-प्रकाश (१० समुल्लास तक) तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का बार-बार अध्ययन-मनन करना चाहिए। दर्शनशास्त्र और उपनिषदों का भाषानुवादों के सहारे अध्ययन किया जा सकता है। **वैदिक-विनय, सोम-सरोवर** जैसे वेदमन्त्रों के भावनापूर्ण व्याख्यानों से युक्त संग्रह-ग्रन्थ भी स्वाध्याय के लिए उपयोगी हैं।

स्वाध्याय का लाभ—स्वाध्याय से ज्ञान की वृद्धि होती है, यह लाभ सर्वविदित और प्रत्यक्ष है। योगशास्त्र के व्यासभाष्य (१।२८) में स्वाध्याय के विषय में लिखा है—

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्या परमात्मा प्रकाशते ॥

अर्थात्—स्वाध्याय से योग=एकाग्रता[1] होती है, और योग=एकाग्रता से किया गया स्वाध्याय विशेष लाभकारी होता है। इस प्रकार स्वाध्याय और योग के सहप्रयोग से आत्मा में प्रभु का प्रकाश होता है।

इसी लिए शास्त्रकारों ने आदेश दिया है—

स्वाध्यायान्मा प्रमदः। (तैत्ति० उप)

यदि मनुष्य प्रतिदिन सन्ध्या-अग्निहोत्र के पश्चात् १५-२० मिनट भी नियमपूर्वक स्वध्याय करे, तो थोड़े ही काल में उसे स्वाध्याय का लाभ प्रतीत होने लगेगा।

१. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। योग १।२॥

बृहद्यज्ञ-विधि

आर्यसमाजों में साप्ताहिक अधिवेशन के दिन बृहद्यज्ञ करने की परिपाटी चल रही है। आर्यसमाज की स्थापना ऋषि दयानन्द ने वि० सं० १९३२ में की थी। निस्सन्देह तभी से साप्ताहिक अधिवेशन के समय यज्ञ करने की परिपाटी चली आ रही है। प्रारम्भिक काल में साप्ताहिक यज्ञ की क्या परिपाटी रही, यह हमें ज्ञात नहीं, क्योंकि इसका विवरण हमें नहीं मिला। ऋषि दयानन्द आर्यसमाज की स्थापना के बाद आठ वर्ष तक जीवित रहे। 'संस्कारविधि' परिशोधित-संस्करण—जो उनके स्वर्गवास से कुछ समय पूर्व ही तैयार हुआ था—में भी साप्ताहिक यज्ञ का कोई विवरण नहीं मिलता। अतः यह एक विचारणीय समस्या है कि साप्ताहिक अधिवेशन में यज्ञ किस प्रकार करें। सार्वदेशिक सभा ने कुछ निर्देश दिए हैं, पर उनका क्या आधार है, यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया।

ऋषि दयानन्द ने 'संस्कारविधि' में पक्ष-याग की विधि इस प्रकार लिखी है—

'जिसके घर में अभाग्य से [दैनिक] अग्निहोत्र न होता हो, तो सर्वत्र पक्ष-यागादि में पृष्ठ २२-२४ में लिखे प्रमाणे यज्ञकुण्ड, यज्ञ-सामग्री, यज्ञमण्डप पृष्ठ ३५-३७ में लिखे अन्याधान, समिदाधान, पृष्ठ ३८-३९ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति और पृष्ठ ३८में लिखे प्रमाणे वेदि के चारों ओर जलसेचन करके[1] पृष्ठ ७-२१ में लिखे प्रमाणे

---

१. यहां 'करके' पद का यह भाव नहीं है कि जलसेचन-विधि के पीछे ईश्वर-स्तुति-प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन तथा शान्तिकरण करें। हम ने

ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण भी यथायोग्य करें'।
सं० वि० पृष्ठ २७३ ॥

इस लेख के आधार पर ऋषि दयानन्द सम्मत साप्ताहिक यज्ञ की पद्धति की प्रकल्पना हो सकती है। इस लेख में पक्षादि शब्द में प्रयुक्त आदि पद से भी इस प्रकल्पना में सहायता मिलती है। तदनुसार साप्ताहिक अधिवेशन में यज्ञ का क्रम इस प्रकार होना चाहिए—

१—सन्ध्योपासना
२—शन्नो देवी० मन्त्र से आचमन
३—ईश्वर-स्तुति-प्रार्थनोपासना
४—स्वस्तिवाचन
५—शान्तिकरण
६—आचमन, अङ्गस्पर्श
७—अग्न्याधान—आधारावाज्यभागाहुति पर्यन्त
८—दैनिक अग्निहोत्र
९—भूरग्नये स्वाहा[1] आदि ४ व्याहृत्याहुतियां
१०—भूर्भुवः स्वः। अग्न............आदि ४ आहुतियां
११—त्वन्नो अग्ने० आदि ८ आहुतियाँ

पूर्व पृष्ठ १६ पर भी 'संस्कारविधि' का एक स्थल उद्धृत करके यही बात दर्शाई है। इसी प्रकार यहां जलसेचन की विधि आधारावाज्यभागाहुति के पश्चात् लिखी है, पर सामान्य विध्यनुसार यह विधि पहले होनी चाहिए।

१. यद्यपि संख्या ९,१०,११,१२,१३,१४ की आहुतियों का निर्देश ऋषि दयानन्द की पक्षयाग-पद्धति में नहीं है, पुनरपि ऋषि के गायत्र्यादि मन्त्रों से (स० प्र० समु० ३) लेख में आदि पद से इनका संकलन किया जा सकता है।

१२—गायत्री मन्त्र से ३ आहुतियां

१३—स्विष्टकृत्-प्राजापत्य-आहुतियां

१४—पूर्णाहुति

यदि साप्ताहिक यज्ञ में ईश्वर-स्तुति-प्रार्थनोपासना से पूर्व सन्ध्या न करनी हो, तो आचमन, अङ्गस्पर्श क्रिया सब से प्रथम करनी चाहिए, क्योंकि यज्ञीय कर्म आचमन के बिना आरम्भ नहीं होता, यह हम पूर्व (पृष्ठ १५) पर लिख चुके हैं। अब हम साप्ताहिक बृहद् यज्ञ के उन प्रकरणों का उल्लेख करते हैं, जो दैनिक अग्निहोत्र से अधिक हैं। अग्न्याधान से पूर्व और ईश्वर-स्तुति-प्रार्थनोपासना के पश्चात् स्वस्ति और शान्ति की प्राप्ति के लिए प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए। इन में से क्रमप्राप्त पहले स्वस्तिवाचन के मन्त्रों की व्याख्या की जाती है।

स्वस्ति-वाचन

विनियोग—नीचे लिखे मन्त्रों से यज्ञ में सम्मिलित प्रत्येक व्यक्ति को प्रभु से स्वस्ति=कल्याण की प्रार्थना करनी चाहिए। स्वस्तिवाचन के मन्त्र ये हैं—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम् ॥१॥
स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये ॥२॥

ऋग्वेद मं० १। सू० १। मं० १, ९॥

१-२. पदार्थ—

अग्निम्—सबके प्रेरक सृष्टि-यज्ञ के नेता की

ईळे—मैं स्तुति करता हूं।

पुरोहितम्[१]—जो सृष्टि रचना से पूर्व ही हित= विद्यमान था, उसकी
यज्ञस्य—सृष्टि-रचनारूपी यज्ञ की
देवम्—जो प्रकाशक है, उस देव की
ऋत्विजम्—ऋतु=सर्गकाल प्राप्त होने पर सृष्टि-यज्ञ के विधाता की
होतारम्—सृष्टियज्ञ के होता=निमित्तकारण की
रत्नधातमम्—रमणीय ग्रह-उपग्रहयुक्त ब्रह्माण्ड को धारण करनेवाले की ॥१॥

सः—वह आप
नः—हमारे लिए
पिता इव—पिता के समान
सूनवे—पुत्र के लिये
अग्ने—हे प्रकाशस्वरूप प्रभो !
सूपायनः—उत्तम भोग्य पदार्थों के देनेवाले
भव—हूजिये, [और]
सचस्व—[भोग्य पदार्थों से] युक्त कीजिये
नः—हम को
स्वस्तये—कल्याण की प्राप्ति के लिये ॥२॥

भावार्थ—मैं यज्ञ के आरम्भ में इस महान् सृष्टि-यज्ञ के नेता विधाता और उसके धारक प्रकाशस्वरूप प्रभु की स्तुति करता हूं। हे अग्ने=प्रकाशस्वरूप प्रभो ! आप हमारे लिये उसी प्रकार सूपायन[२]=सम्पूर्ण भोग्य पदार्थों को देनेवाले हूजिये, जैसे पिता

---

१. पुरः पुरस्तात् हितः=निहितः=स्थापितः विराजमान इत्यर्थः। हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे (यजुः १३।४) इति मन्त्रप्रामाण्यात्।

२. सुष्ठु प्रकारेण समीपं ईयते प्राप्यत इति सूपायनः। इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह भेंट अर्थ में लोकप्रसिद्ध है। इसका अर्थ—सु+उप+अयन=गति अर्थात् सुगमता से जिसके पास जाया जा सके भी हो सकता है। इस व्युत्पति

अपने पुत्र की प्रसन्नता के लिये उसके वाञ्छित पदार्थ देता है। हे प्रभो ! हम आपके द्वारा दिये गये पदार्थों से कल्याण को प्राप्त होवें; उनका दुरुपयोग करके दुःख के भागी न बने ॥१-२॥

स्वस्ति नो मिमीतामश्विना भगः स्वस्ति देव्यदितिरनर्वणः ।
स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतुना ॥३॥

३. पदार्थ—

स्वस्ति—कल्याण
नः—हमारा
मिमीताम्—करें[1]
अश्विना[2]—सूर्य और चन्द्र
भगः—ऐश्वर्य धन-सम्पत्ति
स्वस्ति—कल्याण [करे]
देवी—दिव्य गुणवाली
अदितिः[3]—पृथिवी
अनर्वणः[4]—अचल पर्वत आदि

स्वस्ति—कल्याण
पूषा—पुष्टिकर्त्ता मेघ
असुरः[5]—जीवन-दाता
दधातु—देवे
नः—हमारे लिये
स्वस्ति—कल्याण करें
द्यावापृथिवी—प्रकाशक और प्रकाश्य लोक
सुचेतुना—सम्यक्=उत्तम ज्ञान से ॥३॥

के अनुसार अर्थ होगा—जैसे सुपुत्र के लिए उसका पिता बिना संकोच के प्राप्त करनेयोग्य होता है, अर्थात् जिस प्रकार पुत्र पिता के पास सुगमता से पहुंच सकता है, उसी प्रकार हे प्रभो ! आप भी हमारे लिए सुगमता से प्राप्त होने योग्य हूजिए।

१. माङ् माने—मिमीताम्—नापें, कल्याण का मापन करें, अर्थात् कल्याण करें। २. तत्कावश्विनौ—सूर्यचन्द्रमसावित्येके। निरुक्त १२।१॥

३. अदितिः पृथिवीनामसु पठितम्। निघण्टु १।१॥

४. ऋ गतौ—अर्णवः=गतिमान्, अनर्णवः=गतिरहित।

५. असून् प्राणान् राति ददातीति 'असुरः'।

भावार्थ—हे प्रभो ! सूर्यचन्द्र, धन-सम्पत्ति, देवी पृथिवी, अचल पर्वत आदि, पुष्टिकर्त्ता-जीवनदाता मेघ और प्रकाश्य-प्रकाशक लोक ये सभी हमारे लिये कल्याणकारी होवें ॥३॥

स्वस्तये॑ वा॒युमुप॑ ब्रवामहै॒ सोमं॑ स्व॒स्ति भुव॑नस्य॒ यस्पतिः॑ ।
बृह॒स्पतिं॒ सर्व॑गणं स्व॒स्तये॑ स्व॒स्तय॑ आदि॒त्यासो॑ भवन्तु नः ॥४॥

४. पदार्थ—

स्वस्तये—कल्याण के लिये
वायुम्—वायु को
उपब्रवामहै—समीप बुलाते हैं, अर्थात् वायु के गुणों का ज्ञान करके उसका सम्यक् उपयोग लेते हैं, और
सोमम्—सोम को,
स्वस्ति—कल्याणकारी होवे
भुवनस्य—भुवन=ब्रह्माण्ड का
यः—जो
पतिः—पालक सूर्य है
बृहस्पतिम्—महती वेदविद्या के पालक आचार्य को
सर्वगणम्—गण-समुदाय=शिष्य प्रशिष्य सहित को
स्वस्तये—कल्याण के लिये [उपदेश देने के लिये नम्रतापूर्वक बुलाते हैं]
स्वस्तये—कल्याणकारी
आदित्यासः—श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुष[1]
भवन्तु—होवें
नः—हमारे लिये ॥४॥

भावार्थ=हे प्रभो ! हम कल्याण के लिये वायु, सोम और भुवन के पति सूर्य को बुलाते हैं, अर्थात् इन के गुण-ज्ञान द्वारा इनका सदुपयोग लेते हैं। वेदज्ञान के रक्षक आचार्य को भी शिष्य प्रशिष्यों सहित कल्याण के लिये आह्वान करते हैं। श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुष हमारे लिये कल्याणकारी होवें ॥४॥

---

१. द्रष्टव्य पृष्ठ १०९, टि० ३।

विश्वे॑ दे॒वा नो॑ अ॒द्या स्व॒स्तये॑ वैश्वान॒रो वसु॑र॒ग्निः स्व॒स्तये॑ ।
दे॒वा अ॑वन्त्वृ॒भवः॑ स्व॒स्तये॑ स्व॒स्ति नो॑ रु॒द्रः पा॒त्वंह॑सः ॥५॥

पदार्थ—

विश्वे देवाः—सम्पूर्ण देव=ज्ञानी जन
नः—हम को
अद्य—आज
स्वस्तये—कल्याण के लिये [उपदेश करें]
वैश्वानरः[1]—सम्पूर्ण प्राणियों के शरीरों को गति देनेवाला
वसुः—स्वरूप में स्थिर रखने वाला
अग्निः[1]—आहार का पाचक अग्नि
स्वस्तये—हमारे कल्याण के लिये [होवे, अधिक भोजन द्वारा उसे विषम न बनावे]
देवाः—दिव्य पदार्थ—सूर्य, विद्युत् और अग्नि
अवन्तु—[हमारी] रक्षा करें
ऋभवः[2]—स्वरूप से प्रकाश-धर्मवाले
स्वस्तये—कल्याण के लिये,
स्वस्ति—कल्याणकारी [होवें]
नः—हमको [और हमारी]
रुद्रः[3]—आज्ञाओं को प्रसारित करता हुआ सर्वत्र प्राप्त शासक [हमारी]
पातु—रक्षा करे
अंहसः—पाप=अन्याय्य कर्म करने से ॥५॥

---

१. अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे, येनेदमन्नं पच्यते, यदिदमद्यते, तस्यैष घोषो यमेतत् कर्णावपिधाय शृणोति । बृ० उ० ५।६।१॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।…पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ गीता १५।१४॥

२. ऋतेन भान्ति । निरुक्त ११।१५॥ अथवा—सर्वहितैषी वैज्ञानिक जन । द्र० ऋग्वेद के ऋभुदेवताक मन्त्र । ३. रोरूयमाणो द्रवति । निरुक्त १०।५॥

भावार्थ—हे प्रभो! सब ज्ञानी जन हमें कल्याण का उपदेश करें। वैश्वानर, वसु, आहार का पाचक अग्नि हमारे लिये कल्याणकारी होवे। स्वरूप से प्रकाशधर्मवाले—अग्नि विद्युत सूर्य रूपी दिव्य शक्तियां कल्याण के लिये हमारी रक्षा करें, और शासक भी कल्याण के लिये पापकर्म से हमारी रक्षा करे ॥५॥

स्वस्ति मित्रावरुणा स्वस्ति पथ्ये रेवति ।
स्वस्ति न इन्द्रश्चाग्निश्च स्वस्ति नो अदिते कृधि ॥६॥

६. पदार्थ—

स्वस्ति—कल्याणकारी [होवें]
मित्रावरुणा—प्राण और अपान
स्वस्ति—कल्याणकारी [होवें]
पथ्ये[1]—मार्गों पर निष्कण्टक विचरनेवाली
रेवति[1]—ऐश्वर्यों से पूर्ण गौवें
स्वस्ति—कल्याणकारी [होवे]
नः—हमारे लिये
इन्द्रः—सूर्य
च—और
अग्निः—[विद्युत् रूप] अग्नि
च—और
स्वस्ति—कल्याण
नः—हमारे लिये
अदिते—पृथिवी
कृधि—करे ॥६॥

भावार्थ—हे प्रभो! प्राण-अपान, मार्गों पर निष्कण्टक रूप से विचरनेवाली गौवें, सूर्य विद्युत् और पृथिवी हमारे लिये कल्याणकारी होवें ॥६॥

---

१. पथिषु साध्वी पथ्या। रायः सन्त्यस्यां सा रेवती। जाति में एक वचन।

स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ।
पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि ॥७॥

ऋ० मण्ड० ५ । सू० ५१ । मं० ११-१५ ॥

७. पदार्थ—

स्वस्ति—कल्याणकारी
पन्थाम्—मार्ग का
अनुचरेम—हम अनुसरण करें, मार्ग पर चलें
सूर्याचन्द्रमसौ इव—सूर्य और चन्द्र[1] के समान [विना रुके]
पुनः—और [कल्याण के लिये]
ददता—देनेवाले [दाता] के साथ
अघ्नता—पीड़ा न देने वाले के साथ
जानता—ज्ञानपूर्वक कार्य करने वाले के साथ
संगमेमहि—हम [नित्य] संगति को प्राप्त होवें ॥७॥

भावार्थ=इस मन्त्र में प्रभु से दो प्रार्थनायें की गई हैं। एक—हम कल्याण मार्ग के पथिक [नित्य चलनेवाले] होवें, और दूसरी—सहायता देना, पीड़ा न पहुंचाना और ज्ञान-पूर्वक कर्म करना, इन तीन गुणों से युक्त पुरुषों की ही हम संगति करें अर्थात् ऐसे पुरुषों को ही अपना मित्र[2] बनावें ॥७॥

---

१. योग की प्रक्रिया में सूर्य (सूर्यस्वर) चन्द्रमा (चन्द्रस्वर) बाईं और दाईं नासिका से विचरनेवाले प्राणापान के लिए प्रयुक्त होते हैं। वे भी यावत्-शरीर विना रुके गतिशील रहते है।

२. किसी कवि ने मित्र का लक्षण इस प्रकार बताया है—
पापान्निवारयति योजयते हिताय, गुह्यानि गूहति गुणान् प्रकटीकरोति ।
आपद्गतं रक्षति, ददाति काले, सन्मित्रलक्षमिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥
जो पाप कर्म से बचावे, हितकारी कर्मों में लगावे=प्रेरित करे, न्यूनताओं

ये देवानां यज्ञियां यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः ।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥८॥
ऋ० मं० ७ । सू० ३५ । मं० १५ ॥

८. पदार्थ---

ये—जो
देवानाम्—विद्वानों में
यज्ञियाः—यजनीय संगमनीय [उत्कृष्ट विद्वान् हैं]
यज्ञियानाम्—यजनीयों=संगमनीयों के मध्य
मनोः—मनुष्यमात्र के
यजत्राः—आदरणीय
अमृताः—अमर=यशस्वी
ऋतज्ञाः—सत्य के जानने वाले [विद्वान् हैं]
ते—वे
नः—हमको
रासन्ताम्—प्रदान करें
उरुगायम्—प्रशंसा के योग्य महान् यश को,
अद्य[1]—तत्काल [मार्ग-भ्रष्ट होने पर]
यूयम्—आप लोग
पातः—रक्षा करें
स्वस्तिभिः—कल्याणकारी उपदेशों के द्वारा
सदा—सदा
नः—हमारी ॥८॥

भावार्थ—संगति करने योग्य मानवों के मध्य भी संगति के योग्य जो उत्कृष्ट पुरुष, मनुष्यमात्र के आदरणीय, अमर यशस्वी और सत्य के जानने वाले विद्वान् हैं, वे हमें महान् यश प्रदान करें, और अपने

को प्रकट न करे, गुणों को ही प्रगट करे, कष्ट में पड़े हुए की रक्षा करे, समय पर सहायता देवे, ये छः उत्तम मित्र के लक्षण सत्पुरुष बताते हैं, अर्थात् ऐसे व्यक्ति के साथ ही मित्रता करनी चाहिए ।

१ अद्य शब्द यद्यपि 'आज' अर्थ का वाचक है, परन्तु मन्त्र में 'सदा' शब्द का निर्देश होने से यह लक्षणा से 'तत्काल अर्थ को ध्वनित करता है ।

कल्याणकारी उपदेशों के द्वारा हमारे मार्गभ्रष्ट होने पर मार्ग-प्रदर्शन द्वारा हमारी रक्षा करें ॥८॥

येभ्यो माता मधुमत् पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः ।
उक्थशुष्मान् वृषभरान्त्स्वप्नसस्ताँ आदित्याँ अनु मदा स्वस्तये ॥९॥

९. पदार्थ—

येभ्यः—जिनके लिए
माता—जननी=पृथिवी
मधुमत्—मिठासयुक्त=हित-कारी
पिन्वते—प्रदान करती है
पयः—रस को
पीयूषम्—अमृत तुल्य को
द्यौः—द्युलोक
[1]अदितिः—अखण्डनीय अन्तरिक्ष
[2]अद्रिबर्हाः—मेघों से भरपूर
उक्थशुष्मान्—प्रशंसनीय बलवालों को
वृषभरान्—सुखों की वर्षा करनेवालों को
स्वप्नसः—शुभ कर्म करनेवालों को,
तान्—उनको
[3]आदित्यान्—अदिति=अखण्डनीय सर्वव्यापक देव-माता=जगज्जननी के पुत्रों को
अनु मद—हर्षित करो
स्वस्तये—कल्याण के लिए।९।

भावार्थ—हे प्रभो! प्रशंसनीय बलों वाले, सुखों की वर्षा करनेवाले और शुभ कर्म करनेवाले जिन मानव-श्रेष्ठों के लिये

---

१. अदितिरन्तरिक्षम् । ऋ० १।८९।१०॥

२. अद्रि मेघनाम (निघण्टु १।१०), उन मेघों से बढ़ा हुआ ॥

३. द्र० अदितेरपत्यानि (अष्टा० ४।१।८५) । अदितिः—दो अवखण्डने+क्तिन्=न दिति=अदिति—(देवमातानिरुक्त ४।२२)। आर्यः ईश्वर-पुत्रः (निरुक्त९।२६) ॥

यह पृथिवी, द्युलोक और मेघों से भरपूर अन्तरिक्ष मधुर रस प्रदान करते हैं, उन अदिति=देवमाता जगज्जननी के श्रेष्ठ पुत्रों को कल्याण के लिये हर्षित करो ॥९॥

नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद् देवासो अमृतत्वमानशुः ।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये ।१०।

१०. पदार्थ—

नृचक्षसः—नरों=नेताओं को देखनेवाले=निरीक्षण करनेवाले
अनिमिषन्तः—विना पलक झपके=सदा सावधान
अर्हणाः—पूजा के योग्य
बृहत्—महत्
देवासः—विद्वान् लोग
अमृतत्वम्—अमरपन को
आनशुः—प्राप्त होते हैं
[1]ज्योतिरथाः—प्रकाशपथ में रमण करने वाले
[2]अहिमायाः—अहिंसनीय (अप्रतिधृष्य) प्रज्ञावाले
अनागसः—पापरहित पुरुष
दिवः—द्युलोक से
वर्ष्माणम्—उच्च=सर्वोच्च पद को (पर)
[3]वसते—प्रतिष्ठित होते हैं, या किए जाते हैं
स्वस्तये—जगत् के कल्याण के लिए ॥१०॥

भावार्थ—जो नेताओं पर दृष्टि रखनेवाले, सदा सावधान, प्रकाशपथ में विचरनेवाले, अप्रतिधृष्य बुद्धि वाले, पापरहित विद्वान् पुरुष होते हैं, वे जीवन में सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित होते हैं, और मर कर भी अमर हो जाते हैं। ऐसे पुरुष जगत् के कल्याण के लिये ही उत्पन्न होते हैं ॥१०॥

---

१. रथो रमतेः। निरुक्त ९।११॥ २. माया=प्रज्ञा। निघण्टु ३।९॥
३. वसते वासयन्ति वा, पक्षे अन्तर्भावितण्यर्थः।

स॒म्राजो॒ ये सु॒वृधो॑ य॒ज्ञमा॑य॒युरप॑रिह्वृता दधि॒रे दि॒वि क्षय॑म् ।
ताँ आ वि॑वास॒ नम॑सा सुवृ॒क्तिभि॑र्म॒हो आ॑दि॒त्याँ अदि॑तिं स्व॒स्तये॑ ।।११।।

११. पदार्थ—

सम्राजः—अच्छे प्रकार प्रकशमान् (यशस्वी) जन
ये—जो
सुवृधः—उन्नति करने वा करानेवाले
यज्ञम्—शुभ कर्म को
आययुः—प्राप्त होते हैं
अपरिह्वृताः—कुटिलता से रहित
दधिरे—धारण करते हैं
दिवि क्षयम्—द्युलोक में स्थान=उच्चपद को
तान्—उनको (की)
[1]आविवास—भलीभांति सेवा सम्मान करो
नमसा—नमस्कार द्वारा, (और)
सुवृक्तिभिः—उत्तम प्रशंसनीय वचनों के द्वारा
महः—महान् पूज्य
[2]आदित्यान्—ईश्वरपुत्रों श्रेष्ठ पुरुषों, और
[2]अदितिम्—सर्वव्यापक जगज्जनी देवमाता प्रभु को
स्वस्तये—कल्याण के लिए ।।११।।

भावार्थ—हे मानवो ! जो शुभ गुणों से प्रकाशमान्=यशस्वी, दूसरों की उन्नति चाहनेवाले, शुभ कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, और उच्च सम्माननीय आसन पर विराजमान होते हैं, ऐसे जगज्जननी के श्रेष्ठ पुत्रों की अपने वा लोक के कल्याण के लिये नमस्कार वा उत्तम स्तुति-वचनों से सेवा=सम्मान करो ।।११।।

---

१. विवासति परिचरण=सेवाकर्मा । निघण्टु ३।५ ।।

२. पूर्व पृष्ठ १०९ टि० ३ ।

को वः स्तोमं राधति यं जुजोषथ विश्वे देवासो मनुषो यति ष्ठन।
को वोऽध्वरं तुविजाता अरं करद्यो नः पर्षदत्यंहः स्वस्तये ।१२।

१२. पदार्थ—

कः—कौन [उत्तरपक्ष में= सुखस्वरूप परमात्मा]
वः—तुम लोगों के लिए
[1]स्तोमम्—स्तुति-समूहों को
राधति—सिद्ध करता है, बनाता है
यम्—जिसका
जुजोषथ—प्रेमपूर्वक सेवन करते हो
विश्वे देवासः—हे सकल विद्वान् पुरुषो !
मनुषः—हे मननशीलो!
यति—जितने भी
स्थन—होवें
कः—कौन [उत्तरपक्ष में— सुखस्वरूप परमात्मा]
वः—तुम लोगों के
अध्वरम्—अहिंसनीय शुभ कर्म को
[2]तुविजाता:—हे अपरिमित ज्ञानवालो!
अरम्—पूर्ण
करत्—करता है
यः—जो
नः—हमारे
पर्षत् अति=अतिपर्षत्= दूर करता है
अंहः—हिंसा आदि पाप-कर्मों को
स्वस्तये—कल्याण के लिए ।।१२।।

---

१. उत्तरपक्ष में स्तोम=पदार्थों के गुणों का वर्णन करनेवाले ऋग्वेदादि मन्त्र-समूह ।

२. पाणिनि द्वारा ज्ञाजनोर्जा (अष्टा० ७।३।७९) सूत्र से प्रज्ञापित ज्ञा=ज्ञान अर्थवाली जा प्रकृत्यन्तर से 'क्त' प्रत्यय। तुवि—बहुनाम। निघण्टु ३।१ ।।

भावार्थ---हे विद्वानो ! आप लोगों के लिए कौन स्तुति समूहों को प्रकट करता है ? वह कौन है जिसका आप लोग भी प्रीतिपूर्वक सेवन करते हो ? कौन आप अपरिमित ज्ञान वालों के शुभकर्मों को पूर्ण करता है ? और कौन वह है जो हमारे पाप कर्मों को हम से दूर करता है ? इन सबका उत्तर है---कः=सुख स्वरूप प्रभु कल्याण के लिए ।

विशेष—इस मन्त्र में कः पद प्रश्नवाचक भी है और यही अर्थान्तर द्वारा उत्तर वाचक भी । कौन है वह जो तुम्हारे लिए स्तुति वचनों को कहता है, कौन है वह जिसकी तुम प्रीतिपूर्वक सेवन करते हो, कौन है वह जो तुम्हारे कर्मों को पूर्ण करता है कौन है वह जो हमारे कल्याण के लिए पाप कर्मों को दूर करता है ? इन प्रश्नों का उत्तर है---कः=सुखस्वरूप प्रजापति यहां प्रश्नवाचक कः और उत्तर रूप से निर्दिश्यमान कः (सुखस्वरूप प्रजापति) का श्लेष से उभयथा योग जानना चाहिये । कस्य नूनं कतमस्यामृतानाम् (ऋ० १।२४।१) मन्त्र में भी प्रश्नोत्तर के लिए समान पद का ही निर्देश है ।।१२।।

येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः ।
त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये।१३।

१३. पदार्थ—

येभ्यः—जिन [पदार्थों की शुद्धि] के लिए
होत्राम्—यज्ञ कर्म को
प्रथमाम्—श्रेष्ठ को
आयेजे—मैंने आयोजित किया है
मनुः—मनस्वी ने [ज्ञान पूर्वक]
सुसमिद्धाग्निः—प्रज्वलित किया है अग्नि को जिसने
मनसा—मन से

सप्तहोतृभिः[1]—मुख आदि प्रधान सात इन्द्रियों के द्वारा,
ते—वे
आदित्याः—अदिति=प्रकृति से उत्पन्न पदार्थ
अभयम्—भय-रहित
शर्म—आश्रय वा सुख को
यच्छत—प्रदान करें [और]
सुगा—सुगम
नः—हमारे
कर्त—बनावें
सुपथा—उत्तम जीवन मार्गों को
स्वस्तये—कल्याण के लिए ॥१३॥

भावार्थ—हे प्रभो ! जिन प्राकृतिक पदार्थों की शुद्धि के लिए हम मनस्वी लोग अग्नि प्रज्वलित करके मन और इन्द्रियों के सहयोग से श्रेष्ठ यज्ञ कर्म करते हैं वे शुद्ध निर्मल हुए प्राकृत पदार्थ हमें अभय आश्रय वा सुख को देने वाले होवें और आप अपनी कृपा से उनके द्वारा हमारे उत्तम जीवन मार्गों को सुगम बनावें ॥१३॥

य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः ।
ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्यद्या देवासः पिपृता स्वस्तये ॥१४॥

१४. पदार्थ—

ये—जो
ईशिरे—शासन करते हैं, स्वामी हैं
भुवनस्य—विश्व के
प्रचेतसः—उत्कृष्ट ज्ञान वाले
विश्वस्य—सम्पूर्ण संसार के
स्थातुः—स्थावर के
जगतः—जङ्गम के
च—और
मन्तवः—मननशील ज्ञानी पुरुष,
ते—वे
नः—हमारे
कृतात्—किए हुए

१. दो आंखें, दो कान, दो नाक और मुख=७ होता हैं ।

अकृतात्—न किये हुए
एनसः—पाप कर्म से
परि—सब ओर से
अद्य—आज
देवासः—हे परोपकार वृत्ति वाले विद्वानो !
पिपृत—पालन करो, बचाओ
स्वस्तये—कल्याण के लिए ।

भावार्थ—हे प्रभो ! जो मननशील ज्ञानी पुरुष इस स्थावर जंगम जगत् के स्वामी है वा उस पर शासन करते हैं ऐसे उत्कृष्ट मेधावी किए हुए या न किए हुए पाप कर्मों से हमें बचावें ।

विशेष—इस मन्त्र में किये हुए और न किये हुए पाप कर्मों से रक्षा की याचना की गई है । न किये गये कर्मों से रक्षा ज्ञान द्वारा या उत्तम कर्मों के आचरण द्वारा सम्भव है । किये हुए पाप कर्मों का फल तो अवश्य भोगना होगा उस भोग से कोई बचा नहीं सकता, तब क्या यह प्रार्थना निष्फल है ? नहीं । धर्मशास्त्रकारों ने किये गए पापकर्मों के फलों से बचने का उपाय प्रायश्चित बताया है । प्रायश्चित के दो फल होते हैं एक भविष्य में उन पाप कर्मों से बचना और दूसरा प्रायश्चित करने से शारीरिक मानसिक वा आत्मिक संताप जो फलरूप में प्राप्त होता है, स्वयं सहकर उतने अंश में उसके फल से बचना । यदि प्रायश्चित से स्वयं प्राप्त कष्ट उस कर्म के फल में कुछ कमी न करें और सर्वज्ञ प्रभु स्वयं भुक्तदण्ड की उपेक्षा करके पूरा दण्ड देवे तो संपूर्ण प्रायश्चित विधान व्यर्थ हो जावे । विद्वानों को इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए ॥१४॥

भरे॑ष्विन्द्रं॑ सु॒हवं॑ हवामहेंऽहो॒मुचं॑ सु॒कृतं॒ दैव्यं॒ जन॑म् ।
अ॒ग्निं मि॒त्रं वरु॑णं सा॒तये॒ भगं॒ द्यावा॑पृथि॒वी म॒रुतः॑ स्व॒स्तये॑ ॥१५॥

१५. पदार्थ—

भरेषु—सांसारिक संग्रामों=संघर्षों में
इन्द्रम्—महाबलवान् को
सुहवम्—जिसे सुगमता से बुलाया जा सके, ऐसे परदुःखहर्ता को

हवामहे—हम पुकारते हैं
अंहोमुचम्—पापों=दुःखों=कठिनाईयों से बचाने वाले को
सुकृतम्—उत्तम कर्म करने वाले को
दैव्यम्—श्रेष्ठगुणों वाले को
जनम्—पुरुष को
अग्निम्—तेजस्वी को
मित्रम्—मित्र को
वरुणम्—वरणीय=श्रेष्ठको
सातये—प्राप्ति के लिए
भगम्—ऐश्वर्य को (की)। [ऐसे पुरुषों के मार्ग-दर्शन से]
द्यावापृथिवी—द्यु लोक और पृथिवी लोक
मरुतः—मरुद् गण=अन्त-रिक्ष स्थानीय दिव्य शक्तियां
स्वस्तये—कल्याण के लिए [होवें]।

भावार्थ—हे प्रभो! जीवन में संघर्षों के उत्पन्न हो जाने पर महाबलवान् परदुःखहर्त्ता, पापों से बचाने वाले उत्तम कर्म करने वाले श्रेष्ठ गुण कर्म वाले तेजस्वी, सबके मित्र वरणीय पुरुष को अभिलषित वस्तु की प्राप्ति के लिए हम पुकारते हैं, बुलाते हैं उनका साहाय्य लेते हैं। ऐसे पुरुषों के मार्गदर्शन से पृथिवी द्युलोक और अन्तरिक्षस्थ दिव्यशक्तियां हमारे कल्याण के लिए होवें अर्थात् इन से हम कल्याण प्राप्त करें।

विशेष—निम्न पदों का यह अर्थ भी सम्भव है—

अग्निम्—अग्नि विद्या के जानने वाले को, **मित्रम्**—प्राणविद्या के जानने वाले को, **वरुणम्**—अपान विद्या के जानने वाले को, **द्यावापृथिवी**—द्युलोक और पृथिवी लोक की विद्या को जानने वाले को, **मरुतः**—प्राणविद्या के जानने वाले को। यह अर्थ तत्साहचर्य नियम से जानना चाहिए ॥१५॥

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥१६॥

१६. पदार्थ—

सुत्रामाणम्—अच्छे प्रकार रक्षा करने वाली को
पृथिवीम्—विस्तीर्ण को
द्याम्—प्रकाश से युक्त को
अनेहसम्—त्रुटि रहित को
सुशर्माणम्—सुख देने वाली को
अदितिम्—अकस्मात् नष्ट न होने वाली को=सुदृढ़ को
सुप्रणीतिम्—अच्छे प्रकार बनाई हुई को
दैवीम्—देव-द्वारा निर्मित को या दिव्यगुणों से युक्त को
नावम्—[भवसागर से]पार उतारनेवाली को
सु+अरित्राम्—गति देने वाले=कार्य-निर्वाहक साधन जिसमें हैं, उसको
अनागसम्—अपराध-रहित को
अस्रवन्तीम्—न चूनेवाली=छिद्ररहित को
आरुहेम—आरोहण करें
स्वस्तये—कल्याण के लिए ।।१६।।

भावार्थ—हे प्रभो ! हम आपके द्वारा प्रदान की गई रक्षा करनेवाली, विस्तीर्ण, अग्नि-तत्त्व से युक्त, त्रुटिरहित, सुख देनेवाली, सुदृढ़, सुप्रणीत, ज्ञान या गति के अच्छे साधनों से सम्पन्न, छिद्ररहित इस मानव-तनू रूपी नौका पर बैठकर—उसका आश्रय लेकर—इस भवसागर से पार होकर परम कल्याण=मोक्ष को प्राप्त होवें।

विशेष—इस मन्त्र में विविध गुणयुक्त दैवी नौका का आश्रय लेने का विधान है। अध्यात्म में यह नौका हमारी तनू=शरीर है। अधिभूत में नौका विमान रथ आदि गमनागमन के विविध साधन हैं। अधियज्ञ में—यह यज्ञ ही दैवी नौका है, जिसके आश्रय से यजमान कल्याण को प्राप्त करता है। मन्त्र में सभी प्रकार की नावों का विविध विशेषणों द्वारा या दैवी नाव शरीर की रचना के निर्देश द्वारा सुन्दर विवेचन किया है ।।१६।।

विश्वे यजत्रा अधि वोचतोतये त्रायध्वं नो दुरेवाया अभिह्रुतः ।
सत्यया वो देवहूत्या हुवेम शृण्वतो देवा अवसे स्वस्तये ॥१७॥

१७. पदार्थ—

विश्वे—सब
यजत्राः—यजनीय=श्रेष्ठ पुरुषो !
अधि—उत्कृष्ट या पूर्ण
वोचत—उपदेश देओ
ऊतये—रक्षा के लिए,
त्रायध्वम्—रक्षा करो
नः—हमारी
दुरेवाया[1]:—आपदा=दुर्गति से
अभिह्रुतः—हिंसक=दुःख देनेवाली से,
सत्यया—सत्य=वास्तविक
वः—आप लोगों की
देवहूत्या—दिव्य गुणों वाली स्तुति से
हुवेम—हम पुकारते हैं
शृण्वतः—सुननेवालों को
देवाः—हे विद्वानो !
अवसे—रक्षा के लिये [और]
स्वस्तये—कल्याण के लिये ॥१७॥

भावार्थ—हे श्रेष्ठ पुरुषो ! आप हमें दुःखों से बचाने के लिए उत्तम उपदेश करो, आपदाओं से हमें बचाओ । हे विद्वानो ! आप हमारे वचनों को सुननेवाले होवो, इसलिए हम आप लोगों को सत्य =वास्तविक स्तुतियों से अपनी रक्षा वा कल्याण के लिए पुकारते हैं ॥ १७ ॥

अपामीवामप विश्वामनाहुतिमपारातिं दुर्विदत्रामघायतः ।
आरे देवा द्वेषो अस्मद् युयोतनोरु णः शर्म यच्छता स्वस्तये ।१८।

---

१. दुर्+एव+अच्+टाप् । क्षीरतरङ्गिणी [१।३३५] में एवृ सेवने पठित है ।

१८. पदार्थ—

अप—दूर [करो]
अमीवाम्—रोग-उत्पादक शक्तिहीनता[1] को
अप—दूर [करो]
विश्वाम्—सम्पूर्ण
अनाहुतिम्—यज्ञ न करने की भावना को
अप—दूर [करो]
अरातिम्—दान न देने की
दुर्विदत्राम्—दुष्ट बुद्धि को,
अघायतः—पापी की।
आरे—दूर
देवाः—हे विद्वानों !
द्वेषः—द्वेष बुद्धि को
अस्मत्—हम से
युयोतन—हटाओ
उरु—विस्तीर्ण-बहुत-महान्
नः—हमारे लिये
शर्म—सुख को
यच्छत—देओ
स्वस्तये—कल्याण के लिये ॥१८॥

भावार्थ—हे प्रभो ! आप हमारी शारीरिक मानसिक शक्तिहीनता, यज्ञ न करने की भावना और पापीजन की दान न देने की दुष्ट बुद्धि को हमसे दूर करो। हे विद्वानो ! आप भी अपने उपदेशों के द्वारा द्वेष-बुद्धि को हमसे परे हटाओ, और हमारे कल्याण के लिए महान् सुख को प्रदान करो ॥१८॥

अरिष्टः स मर्तो विश्व एधते प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि ।
यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिरति विश्वानि दुरिता स्वस्तये ।१९।

१९. पदार्थ—

अरिष्टः—हिंसित न होता हुआ=स्वस्थ
सः—वह
मर्तः—मनुष्य

---

१. निर्बल मनुष्य शीघ्र रोगों से पीड़ित हो जाते हैं।

विश्वः—सब
एधते—बढ़ता है, उन्नति करता है
प्र—उत्तम रूप से
प्रजाभिः—प्रजाओं के द्वारा
जायते—उत्पन्न होता है= बढ़ता है
धर्मणः परि—धर्म=कर्तव्य= निष्काम कर्म के बाद, कर्म करके
यम्—जिस [मनुष्य-समूह] को
आदित्यासः—हे अदिति= ईश्वर के पुत्रो=श्रेष्ठ जनो !
नयथ—चलाते हो,
सुनीतिभिः—उत्तम नीति= न्याय्यपथों से
अति—[उसके] अत्यन्त [दूर करते हो]
विश्वानि—सम्पूर्ण
दुरिता—दुर्गुण-दुर्व्यसनों को
स्वस्तये—कल्याण के लिये ॥१९॥

भावार्थ—सब मनुष्य तन मन से स्वस्थ रहते हुए ही उन्नति कर सकते हैं। धर्म=कर्त्तव्य कर्म करके ही मानव प्रजाओं=सन्तानों सेवकों आदि से बढ़ता है। हे ईश्वरपुत्रो श्रेष्ठजनो ! जिसको तुम न्याय्य-पथों से चलाना चाहते हो, उसके कल्याण के लिए उसके दुर्गुण दुर्व्यसनों को दूर करते हो ॥१९॥

यं देवासोऽवथ वाजसातौ यं शूरसाता मरुतो हिते धने ।
प्रातर्यावाणं रथमिन्द्र सानसिमरिष्यन्तमा रुहेमा स्वस्तये ॥२०॥

२०. पदार्थ—

यम्—जिसको (की)
देवासः—हे विद्वानो !
अवथ—रक्षा करते हो
वाजसातौ[1]—अन्नादि भोग्य पदार्थों की प्राप्ति जिस कर्म में हो, उसमें

१. वन सम्भक्तौ । सम्भक्तिः प्राप्तिः सहयोगश्च ।

यम्—जिसको (की)
शूरसातौ[1]—शूरों का सहयोग जिसमें हो, उस कर्म में
मरुत:[2]—हे शत्रुओं के संहारक वीरो !
हिते—हितकारक
धने[3]—संग्राम में
प्रातर्यावाणम्[4]—उषःकाल में मिलानेवाले—प्राप्त करानेवाले
रथम्—गति के आधार को
इन्द्र—हे परमात्मन् !
सानसिम्—भोग-पदार्थों को प्राप्त करानेवाले को
अरिष्यन्तम्—नष्ट न होने वाले को
आरुहेम—आरोहण करें
स्वस्तये—कल्याण के लिये ॥२०॥

भावार्थ—अन्न आदि भोग्य पदार्थों की प्राप्ति और शूरवीरों का सहयोग जिस हितकारक संग्राम में होता है, उसमें विद्वान् शत्रु-संहारक जिस रमणीय रथ=स्वशरीर की रक्षा करते हैं। हे प्रभो! हम भी उस प्रातःकाल आपसे सध्यायोग द्वारा मिलाने वाले, भोग्य पदार्थों को प्राप्त कराने वाले, चिरकाल तक स्थिर बने रहने वाले शरीर रूपी रथ[5] पर आत्म-कल्याण के लिए चढ़ें, अर्थात् हम उसके स्वामी बनें। उससे मानव-जीवन के धर्म अर्थ काम मोक्ष रूप चारों फलों को प्राप्त करें ॥२०॥

---

१. वन सम्भक्तौ । सम्भक्तिः प्राप्तिः सहयोगश्च ।

२. मृग्रोरुतिः (उ० १।९४) मृ (अन्तर्भावितण्यर्थ)+उतिः=मरुत ।

३. 'महाधने' संग्रामनाम (निघण्टु २।१७) । पदेषु पदैकदेशान् (द्र० महाभाष्य अ० १ पा० १ आ० १) न्याय से यहां 'धने' एकदेश का प्रयोग हुआ है।

४. यु मिश्रणेऽमिश्रणे च, ण्यन्त, मुक् का छान्दस अभाव ।

५. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीर रथमेव तु । कठोप० १।८।३॥

स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वस्त्य१प्सु वृजने स्वर्वति ।
स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतो दधातन ॥२१॥

२१. पदार्थ—

स्वस्ति—[हे इन्द्र परमात्मन् !] कल्याण करो
नः=हमारा
पथ्यासु—पथ-युक्त उत्तम प्रदेशों में
धन्वसु—[मार्ग-रहित] मरु-प्रदेशों में,
स्वस्ति—कल्याण करो
अप्सु—जलमय प्रदेशों में
वृजने[1]—अन्तरिक्ष में
स्वर्वति[2]—द्युलोक में,
स्वस्ति—कल्याण करो
नः- हमारा
पुत्रकृथेषु—पुत्रों को उत्पन्न करनेवाली
योनिषु—नारियों में वा उन के योनि-प्रदेशों में,
स्वस्ति—कल्याण को
राये—ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये
मरुतः[3]—दुःखी होकर मत रोओ, ऐसा आश्वासन देने वाले प्रभो !
दधातन—स्थापित करो ।२१।

भावार्थ—हे प्रभो ! उत्तम स्थल-प्रदेशों, मरु-प्रदेशों, जल-प्रदेशों, अन्तरिक्ष और द्युलोक=अत्युच्च स्थान में सर्वत्र हमारा कल्याण करो । हमारी प्रजावर्धक नारियों वा उनके गर्भधारक शरीरावयवों को कल्याणकारी बनाओ तथा दुःखों के समय 'मत रोओ'-'धैर्य रखो' ऐसा आश्वासन देने वाले प्रभो ! हमें धन ऐश्वर्य में स्थापित करो, अर्थात् अत्यधिक घन ऐश्वर्य देओ ॥२१॥

---

१. वृजनमाकाशम् इति उणादिप्रकरणे (२।८१) सिद्धान्तकौमुदी ।
२. स्वः इति दिव आदित्यस्य च नाम (निरुक्त २।१३) ।
३. मा+रु शब्दे+क्विप्=मारुत्=मरुत् पृषोदरादि (अष्टा० ६।३।१०९) से सिद्ध ।

स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति ।
सा नो अमा सो अरणे नि पातु स्वावेशा भवतु देवगोपा ।२२।

ऋक् मं० १० । सू० ६३ मं० ३-१६

२२. पदार्थ—

स्वस्तिः[1]—सुखपूर्वक जिसमें रहा जाये वह भूमि
इत् हि—निश्चय से
प्रपथे[2]—उत्तम ऋजु मार्ग के निमित्त
श्रेष्ठा—उत्तम
रेक्णस्वती—धनधान्य से पूर्ण
अभि—भलीभांति
या—जो
वामम्[3]—सुन्दरता=सुगमता से
एति—प्राप्त होती है,
सा—वही भूमि
नः—हमारा
अमा[4]—घर है,
सांउ—वहां
अरणे—निर्जन अरण्यों में
निपातु—रक्षा करे
स्वावेशा—सुन्दर निवास योग्य
भवतु—होवे
देवगोपा—विद्वानों धार्मिक भूपतियों से रक्षित अथवा दैवी शक्तियों से रक्षित ॥२२॥

भावार्थ—हे प्रभो ! हम जिस भूमि पर रहते हैं वह धनधान्य से पूर्ण भूमि निश्चय ही ऋजु=सरलता युक्त मार्ग से जीवनयापन

---

१. सु+अस् भुवि+तिः=उत्तम सत्तावाली ।

२. निमित्तात् कर्मसंयोगे सप्तमी वक्तव्या (महा० २।३।३६ वा०) से सप्तमी । यथा चर्मणि द्वीपिनं हन्ति=चर्म के निमित्त चीते को मारते हैं ।

३. टुवम उद्गिरणे । उद्गीर्ण हुई, स्वतः निखरी हुई सुन्दरता । यहां क्रियाविशेषण है । अतः लक्षणा से 'सुगमता' अर्थ किया है ।

४. अमा गृहनाम । निघण्टु ३।४॥

करने के निमित्त हमें प्राप्त हुई है, वही भूमि हमारा घर है, अर्थात् उसे ही हम अपना वास्तविक रूप में घर समझें। वही देवों से रक्षित भूमि निर्जन स्थान में भी हमारी रक्षा करे, और हमारे सुखपूर्वक निवास योग्य होवे ॥२२॥

इषे त्वोर्जे त्वा वायवं स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणऽआप्यायध्वमघ्न्याऽइन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवाऽअयक्ष्मा मा वं स्तेनऽईशत माघशंसो ध्रुवाऽ अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि ॥२३॥

यजुः अ० १ । मं० १ ॥

२३. पदार्थ—

इषे—अन्न आदि भोग्य पदार्थों [की प्राप्ति] के लिये
त्वा[1]—आप [रक्षक-स्वरूप ब्रह्म का आश्रय लेते हैं]
ऊर्जे—बल पराक्रम के लिए
त्वा—आपका [आश्रय लेते हैं]
वायवः—गतिशील, आगे बढ़ने वाले
स्थ[2]—होवें
देवः—सकल ऐश्वर्य को देने वाले
वः—आप
सविता—शुभ कर्मों में प्रेरणा देने वाले
प्रार्पयतु—[हमें समस्त भोग्य पदार्थ, बल पराक्रम, गतिशीलता, आगे बढ़ने की उमंग] प्राप्त करावें, देवें।
श्रेष्ठतमाय—अत्युत्तम
कर्मणे—कर्म के लिए

---

१. भावार्थ के अन्त में 'विशेष' शीर्षक देखो।

२. पुरुषव्यत्यय, प्रथम पुरुष के स्थान में मध्यम पुरुष जानें।

आप्यायध्वम्—मोटी ताजी दुधारु होवें
अघ्न्याः—गौवें
इन्द्राय—राष्ट्र की उन्नति के लिए
भागम्—भजनीय सेवनीय दूध को [प्राप्त करावें, और]
प्रजावतीः—उत्तम प्रजा=बछड़े बछड़ियों से युक्त
अनमीवाः—क्षुद्र रोगों से रहित
अयक्ष्माः—क्षयसदृश बड़े रोगों से रहित [होवें],
मा—नहीं
वः[1]—उन का
स्तेन[2]:—हिंसक, नाश करने वाला वा चोर
ईशत—स्वामी होवे,
मा—नहीं
अघशंसः—पाप की इच्छा करने वाला [उन का स्वामी होवे].
ध्रुवाः—निश्चल, स्थिर
अस्मिन्—इस
गोपतौ—गौवों की रक्षा करने वाले के अधीन
स्यात[1]—होवें
बह्वीः—बहुत [होवें=बढ़ें]
यजमानस्य—यज्ञ=शुभ कर्म करने वाले पुरुष के
पशून्—पशु धन सम्पदा की
पाहि—रक्षा करो हे प्रभो !

भावार्थ—हे सर्वरक्षक एवं सर्वव्यापक प्रभो ! हम भोग्य-पदार्थों की प्राप्ति एवं उनके सदुपयोग से बल पराक्रम की प्राप्ति के लिए आपका आश्रय लेते हैं, आप से याचना करते हैं। हम सदा गतिशील आगे बढ़ने वाले उन्नति करने वाले होवें। आप ही सकल ऐश्वर्यों के दाता एवं शुद्ध कर्मों में प्रेरक हो, इसलिए आप ही हमें अत्युत्तम कर्म[3] करने के लिए समस्त वाञ्छित पदार्थ प्राप्त

१, पूर्ववत् पुरुषव्यत्यय।
२. स्त्यै संघाते+इनच्, बाहुलकाद् यलोपश्च (दशपादी उ० वृ० ५। १२)। यद्वा—स्तेन चौर्ये+अच्।
३. यहां आरम्भ में निर्दिष्ट अत्युत्तम कर्म से 'निष्काम भावना से किये

कराओ। हमारी दुधारु गौवें हृष्ट पुष्ट होवें और राष्ट्र को दूध घृत आदि समस्त सेवनीय पदार्थ प्राप्त करावें। हमारी गौवें उत्तम प्रजा=बछड़ बछड़ी जनने वाली होवें, क्षुद्र रोग और बड़े रोगों से रहित होवें, उन पर कोई हिंसक चोर और पापी पुरुष शासन न करे, स्वामी न होवे। गौवों की रक्षा करने वाले स्वामी के आश्रय में स्थिर निश्चल होवें और खूब बढ़ें। हे प्रभो! आप शुभ कर्म करने वाले पुरुष के पशु धन सम्पत्ति आदि को रक्षा करो।

विशेष—यह यजुर्वेद का प्रथम मन्त्र है। इसमें त्वा सर्वनाम का प्रयोग है। सर्वनाम पूर्व में प्रयुक्त शब्द को द्योतित करने के लिए प्रयुक्त होता हैं, यह सामान्य नियम है। इस मन्त्र में पूर्व ऐसा कोई पद नहीं है जिसका त्वा से परामर्श किया जाये। अतः इस दोष को निवारण करने के लिये यजुःसंहिता के अन्त में पठित ओं खं ब्रह्म का संकेत त्वा पद से किया है। मालामध्य मणि जैसे दोनों छोरों से सम्बद्ध होता है। वैसे ही यजुःसंहिता की मन्त्रमाला के अन्त्य छोर से संबद्ध ओं खं ब्रह्म अंश आदि छोर से भी संबद्ध है। लेखन या पठन पाठन के सौकर्य के लिए उसे अन्त में लिखा या पढ़ा जाता है। इसी लिए पदपाठ के प्रवक्ता आचार्य इस अंश को ४०वें अध्याय के अन्त्य मन्त्र के पद पाठ से पृथक् रूप में पढ़ते हैं।

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः।
देवा नो यथा सदमिद् वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे।२४।

२४. पदार्थ—

आ—भलीभांति
भद्राः उत्तम श्रेष्ठ
नः—हमको
क्रतवः[1]- कर्म वा प्रज्ञा

गये कर्म' ही अभिप्रेत हैं, यह उपसंहार के कुर्वन्नेवेह कर्माणि (४०।२) मन्त्र से ज्ञात होता है। इस मन्त्र में एव पद फलाभिलाषा की निवृत्ति के लिए है।

१. कर्मनाम (निघण्टु २।१), प्रज्ञानाम निघण्टु (३।९)।

यन्तु—प्राप्त होवें
विश्वतः—सब ओर से,
अदब्धासः[1]—हिंसित न होने वाले
अपरीतासः[2]—विपरीत न होने वाले
उद्भिदः[3]—कर्मान्तरों को उत्पन्न करने वाले।
देवाः—विद्वान् लोग
नः—हमारी
यथा - जैसे
सदम्[4]—सर्वदा
इत्—ही
वृधे—उन्नति के लिए
असन्—[सहायक] होवें [वैसे]
अप्रायुवः—अप्रमादी सावधान
रक्षितारः—रक्षा करनेवाले [होवें]
दिवेदिवे प्रतिदिन।

भावार्थ—हे प्रभो! हमें हिंसित न होने वाले, विपरीत न होने वाले, कर्मान्तरों वा संकल्पान्तरों को उत्पन्न करने वाले उत्तम श्रेष्ठ कर्म वा प्रज्ञाएं सब ओर से प्राप्त होवें। विद्वान् लोग जैसे सदा हमारी उन्नति के लिए सहायक होवें, उसके लिए वे प्रतिदिन अप्रमादी सदा सावधान और रक्षा करने वाले होवें।

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानांᳫं रातिरभि नो निवर्तताम्।
देवानांᳫं सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे॥२८॥

---

१. दभ, दभि, क्षेपे (क्षीरत० १०।१२१)। क्षेपो निन्दा हिंसा च। न दब्धाः—अदब्धाः।

२. परि+इत=परीत=विपरिणाम को प्राप्त। न परीताः-अपरीताः।

३. उद्+भिदिर् विदारणे+अच्। उद्भिद=उद्भेदक।

४. सदम् अव्ययं सदार्थकम्।

२५. पदार्थ—

देवानाम् - विद्वानों की
भद्रा—कल्याणकारिणी
सुमतिः—उत्तम मति
ऋजूयताम्—सरलता से व्यवहार करने वालों की [हमें प्राप्त हो][1]
[2]देवानाम्—दाताओं के
रातिः—दान
[3]अभि—सम्मुख
नः—हमारे
निवर्तताम्—लौटें (हमें प्राप्त होवें),
देवानाम्—विद्वानों=ज्ञानियों की
सख्यम्—मित्रता को
उपसेदिम—प्राप्त करें
वयम्—हम,
देवाः—आयुर्विज्ञान के ज्ञाता
नः—हमारी
[4]आयुः—आयु को
प्रतिरन्तु—बढ़ावें
जीवसे—जीने के लिये ॥२५॥

भावार्थ—सरलता से व्यवहार करनेवाले विद्वानों की कल्याणकारिणी शुभ मति हमें प्राप्त हो। दाताओं का दान हमारे सम्मुख लौटे=हमें प्राप्त होवें। ज्ञानियों की मित्रता हम प्राप्त करें, और आयुर्विज्ञान के वेत्ता रसायन आदि के सेवन द्वारा हमारे दीर्घ जीवन के लिये आयु को बढ़ावें ॥२५॥

---

१. वाक्य के क्रियारहित होने के कारण यहां उत्तरवर्ती 'अभिनिवर्तताम्' क्रिया का अपकर्षण जानना चाहिए। २. देवो दानात्। निरुक्त ७।१५॥

३. अभि इत्याभिमुख्यम् [अर्थमाह]। निरुक्त ७।३॥

४. 'आयुः' जन्म से मरण-पर्यन्त सम्पूर्ण काल का वाचक है। अवस्था के लिये संस्कृत में 'वयस्' का प्रयोग होता है। अवस्था के लिए 'आयुः' का प्रयोग अशुद्ध है। उड़िया आदि अनेक प्रान्तीय भाषाओं में अवस्था के लिये 'वयस्' का ही प्रयोग होता है।

तमीशा॑नं॒ जग॑तस्त॒स्थुष॒स्पतिं॑ धियञ्जि॒न्वमव॑से हूमहे व॒यम् ।
पू॒षा नो॒ यथा॒ वेद॑सा॒मस॑द् वृ॒धे र॑क्षि॒ता पा॒युरद॑ब्धः स्व॒स्तये॑ ॥२६॥

२६. पदार्थ—

तम्—उस

[1]ईशानम्—ऐश्वर्यों के स्वामी को

जगतः—जङ्गम [जगत्] के

तस्थुषः—स्थावर [जगत्] के

पतिम्—पालक वा स्वामी को

[2]धियंजिन्वम्—कर्मों वा बुद्धियों को पूर्ण करने हारे को

अवसे—रक्षा के लिये

हूमहे—पुकारते हैं, याचना करते हैं,

वयम्—हम

पूषा—पुष्टिकर्त्ता

नः=हमारे

यथा—जैसे

वेदसाम्—धनों के

असत्—होवे

वृधे—बढ़ाने के लिये, [वैसे ही]

रक्षिता—रक्षा करने वाला

पायुः—पालक

अदब्धः—अहिंसित=सर्व-शक्तिमान्

स्वस्तये—हमारे कल्याण के लिये [होवे] ॥२६॥

भावार्थ—सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामी, स्थावर-जंगम चराचर जगत् के पालक और हमारे कर्मों वा बुद्धियों को पूर्ण करने वाले प्रभु को रक्षा के लिये हम पुकारते हैं, उससे रक्षा की याचना करते हैं। पुष्टिकर्त्ता वैश्य जैसे अपने धनों को बढ़ाने वाला होता है, वैसे ही सर्वशक्तिमान् पालक वा रक्षक प्रभु हमारे कल्याण के लिये होवे, अर्थात् हमारा कल्याण करे।

---

१. ईशा वास्यमिदं सर्वम् । यजुः ४०।१॥

२. धीः कर्मनाम (निघण्टु २।१); प्रज्ञानाम (निघण्टु ३।९)॥ जिवि (जिन्व) प्रीणनार्थः । प्रीणनं पूरणमपि ।

विशेष—यह मन्त्र आधिदैविक प्रक्रिया में सूर्यदेवताक है। अर्थ होगा—जो स्थावर जंगम जगत् का स्वामी[1], प्रकाश द्वारा ज्ञान वा कर्म का पूरक है, उसको रक्षा के लिये पुकारते हैं। सूर्यदेव के ज्ञानपूर्वक उपयोग से हम अपने लक्ष्य को पूर्ण करते हैं। वह पुष्टिकर्त्ता जगत् का रक्षक वा पालक देव हमारे कल्याण के लिये होवे ॥२६॥

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥२७॥

२७. पदार्थ—

स्वस्ति—कल्याण को [धारण करे][2]
नः—हमारे सिये
[3]इन्द्रः—बलसम्पन्न क्षत्रिय, वा वर्षा के द्वारा जल प्रदान करने वाला विद्युत्
वृद्धश्रवाः[4]—बढ़ा हुआ है श्रवः=भोग्य पदार्थ वा शब्द जिसका, वह

स्वस्ति—कल्याण को [धारण करे][2]
नः—हमारे लिये
पूषा—पुष्टिकर्त्ता वैश्य, अथवा सूर्य
[5]विश्ववेदाः—महान् धन वा ज्ञान जिसका है, वह
स्वस्ति—कल्याण को [धारण करे][2]
नः—हमारे लिये

---

१. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। यजुः ७।४२॥

२. सर्वत्र अन्त में पठित दधातु क्रिया का अपकर्षण करें।

३. या का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्। निरुक्त ७।१०। मध्यमस्थानीय देव। इरां [जलं] राति ददातीति (निरुक्त १०।८) इन्द्रः=विद्युत्।

४. श्रवः अन्ननाम। निघण्टु २।७॥ श्रवणं श्रवः=शब्दः।

५. वेदस्—विद्लृ लाभे+असुन्=धनम्; विद ज्ञाने+असुन्=ज्ञानम्।

[1]तार्क्ष्यः—कर्मों में शीघ्र व्याप्त होने वाला शूद्र, अथवा वडवानल
[2]अरिष्टनेमिः—जिमकी गति हिंसित नहीं होती है, वह
स्वस्ति—कल्याण को
नः—हमारे लिये
[3]बृहस्पतिः—बृहत् ज्ञान को पालक ब्राह्मण, वा बृहत् ब्रह्माण्ड का पालक सूर्य
दधातु—धारण करे ॥२७॥

भावार्थ—इस मन्त्र के प्रकृत प्रसंग में मानव-समाज-परक और आधिदैविक दोनों अर्थ उपपन्न होते हैं। जो इस प्रकार हैं—

सामाजिकार्थ—हे प्रभो! आपके अनुग्रह से मानव-समाज में बल-सम्पन्न, मानवता का त्राता क्षत्रिय वर्ण, धन ऐश्वर्य से समाज का पोषक वैश्य वर्ण, विविध कर्मों में व्याप्त शूद्र वर्ण, और ज्ञान का पति=रक्षक ब्राह्मण वर्ण ये चारों समुदाय हमारे लिये कल्याणकारक होवें। इन के यथायोग्य सेवन=संग द्वारा हम लाभान्वित होवें।

आधिदैविकार्थ हे प्रभो! महान् गड़गड़ाहट करनेवाली एवं जल वर्षानेवाली विद्युत्, सृष्टि का पोषक[4] एवं ज्ञान का साधन रूप सूर्य, जल में भी अप्रतिहत गतिवाला वडवानल (समुद्रस्थ अग्नि), और ब्रह्माण्ड का पालक सूर्य, ये सब हमारे लिए कल्याण करनेवाले होवें, अर्थात् हम इनके यथोचित सेवन से सुखी होवें

---

१. मध्यम स्थानीय देवों में पाठ है (निघण्टु ५।३)। यहां धात्वर्थ योग से जलगर्भस्थ वड़वानल वा शूद्रवर्ण अर्थ किया है। तृक्ष गतौ।

२. अग्नि जल से शान्त होता है, परन्तु वड़वानल अग्नि जल में ही रहता हुआ प्रदीप्त होता है।

३. वाग्वै बृहती तस्या एषः पतिः तस्माद् उ बृहस्पतिः। शत० १४।४।१।२२॥ ब्रह्म वै बृहस्पतिः (ऐ० ब्रा० १।१३; शत० ३।१।४।१५) समानार्थावेतौ ब्रह्मन् शब्दो ब्राह्मणशब्दश्च। महाभाष्य ५।१।७॥

४. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। यजुः ७।४२॥

विशेष—लोक में यह मन्त्र कर्म-विशेष के अवसर पर तिलक करके आशीर्वाद देने में प्रयुक्त होता है। इस कर्म में समाज के चारों वर्णों की अनुमति और आशीः है, यह व्यक्त किया जाता है ॥२७॥

भ॒द्रं कर्णे॑भिः शृणुयाम देवा भ॒द्रं प॑श्येमा॒क्षभि॒र्यज॑त्राः ।
स्थि॒रैरङ्गै॑स्तुष्टु॒वाᳪं᳭स॑स्त॒नूभि॒र्व्य॑शेमहि दे॒वहि॑तं॒ यदायुः ॥२८॥

यजुः अ० २५। मं० १४-१५, १८-१९, २१॥

२८. पदार्थ—

भद्रम्—कल्याण को
कर्णेभिः—कानों से
शृणुयाम—सुनें
[1]देवाः—हे देव=दिव्यगुण-युक्त प्रभो !
भद्रम्—कल्याण को
पश्येम—देखें
अक्षभिः—आंखों से
[1]यजत्राः—हे सृष्टियज्ञ के विधाता !,
स्थिरैः—स्थिर=सुदृढ़
अङ्गैः—अङ्गों से
तुष्टुवांसः—स्तुति करते हुए
तनूभिः—शरीरों से,
वि अशेमहि—प्राप्त होवें
[2]देवहितम्—देव=प्रभु के द्वारा अथवा देव=दैव=कर्मानुसार हित=नियत
यत्—जो
आयुः—आयु [है उस] को ॥२८॥

भावार्थ—हे दिव्य गुण युक्त, सृष्टियज्ञ के विधाता प्रभो ! हम आपकी कृपा से कानों से उत्तम शब्द ही सुनें, आंखों से अच्छा ही देखें, स्थिर सुदृढ़ अङ्गों और शरीरों से आपकी ही स्तुति करते

१. देवाः यजत्राः—दोनों में महत्त्व पूजा-सत्कार के द्योतन के लिये बहुवचन है। 'आदरार्थे बहुवचनम्' इति लौकिको नियमः।

२. सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। योग २।१३॥

हुए आपके द्वारा हमारे कर्मानुसार नियत आयु को पूर्ण रूप से प्राप्त होवें; अकाल मृत्यु के ग्रास न बनें ॥२८॥

अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥२९॥

२६. पदार्थ—

अग्ने—हे प्रकाशस्वरूप प्रभो!
आ—सब ओर से
याहि—प्राप्त होवो
वीतये[1]—[दुःखों को] दूर हटाने के लिये
गृणानः—स्तुति किया हुआ (स्तुति को प्राप्त होकर)
हव्यदातये[2]—[जीवन यज्ञ के] हव्य=भोग्य पदार्थों को देने के लिये
नि—निश्चय से
होता—मनः-कामनाओं के दाता=पूर्ण करने हारे
सत्सि—बैठें, विराजमान होवें
बर्हिषि[3]—यज्ञस्वरूप हमारे पवित्र हृदय-मन्दिर में ॥२६॥

भावार्थ—हे प्रकाशस्वरूप प्रभो ! हमारे द्वारा स्तुति किये हुए आप हमें दुःखों से बचाने के लिये तथा जीवनयज्ञ के हव्यरूप भोग्यपदार्थों को देने के लिए सब ओर से प्राप्त हूजिये, और प्राप्त होकर हमारे हृदय-मन्दिर में निश्चय से विराजमान हो जाइये, और पुनः हम से दूर मत हूजिये ॥२०॥

---

१. वि+इण् गतौ+क्तिन् ।

२. हव्य+डुदाञ् दाने+क्तिन् । छान्दसत्वाद् दद्भावो न भवति ।

३. बर्हिर्यज्ञः, साधने तत्साध्यनामापदेशः ।

त्वमग्ने यज्ञानाꣳ होता विश्वेषाꣳ हितः। देवेभिर्मानुषे जने ॥३०॥

साम० पूर्वा० प्रपा० १। द० १। मं० १, २॥

३०. पदार्थ—

त्वम्—आप
अग्ने—हे प्रकाशस्वरूप प्रभो!
यज्ञानाम्—श्रेष्ठ कर्मों के
होता—विधाता=प्रेरक
विश्वेषाम्—सब जगत् के
[1]हितः—धारण करनेहारे अथवा हित करनेवाले [हो]
देवेभिः—[अपने] दिव्य गुणों के द्वारा
[2]मानुषे—मनस्वी के पुत्र=अत्यन्त मनस्वी के मध्य
जने—उत्पन्नधर्मा प्राणी के मध्य स्थित होवो[3] ॥३०॥

भावार्थ—हे प्रकाशस्वरूप प्रभो! आप ही श्रेष्ठ कर्मों के विधाता वा प्रेरक हो, आप ही समस्त जगत् के धारण करने वाले वा हित करने वाले हो। हे प्रभो! आप अपने दिव्य गुणों के द्वारा अत्यन्त मेधावी जन के मध्य स्थित हूजिये ॥३०॥

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥३१॥

अथर्व कां० १। सू० १। मं० १॥

---

१. डुधाञ् धारणपोषणयोः क्त, हिभावः॥ अष्टा० ७।४।४२॥

२. मनुः—मन ज्ञाने+उः, मननशीलः। तस्यापत्यम्—मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च (अष्टा ४।१।१६१)। अपत्यस्य पुत्रस्य वा वाच्यमाधिक्यमपि भवति। तथाहि—मगन्दः कुसीदी, तदपत्यं प्रमगन्दः अत्यन्त कुसीदिकुलीनः (निरुक्त ६।३२)। लौकिकभाषायां 'बाप' 'सरदार' 'गुरु' प्रभृतीन्यप्याधिक्यार्थमेव द्योतयन्ति। ३. सत्सि पदं पूर्वमन्त्रादनु वर्तते।

३१. पदार्थ—

ये—जो
त्रिषप्ताः—३×७=२१
त्रिगुणित सात=इक्कीस
परियन्ति—सब ओर से
प्राप्त होते हैं
विश्वा रूपाणि—सब रूपों को
बिभ्रतः—धारण करते हुए

[1]वाचस्पतिः—वाणी का
स्वामी अथवा प्रजापति
बला—बलों=सामर्थ्यों को
तेषाम्—उनके
तन्वः—शरीर के
अद्य—आज
दधातु—धारण करावे
मे—मेरे भीतर ॥३१॥

भावार्थ—यह मन्त्र पहेली रूप है, इसकी व्याख्या अनेक प्रकार से हो सकती है। तथापि हम यहां दो ही व्याख्यायें उपस्थित करते हैं—

वाणीपरक—तीन=एकवचन द्विवचन बहुवचन रूप वचनों से गणित सात विभक्तियां ही वाणी के विविध रूपों को धारण करती हुई विचरती हैं। वाणी का स्वामी परमात्मा हमें वाणी के इन त्रिगुणित सात=२१ इकीस वचनों के अर्थप्रकाशन-सामर्थ्य मेरे भीतर धारण करावे, अर्थात् मैं इनके अर्थप्रकाशन-सामर्थ्य का जानकार होकर वाग्व्यवहार में कुशल होऊं।

सृष्टिपरक—प्रकृति के सत्त्वरजतम सात विकृतियों=महान्, अहंकार, ५ पञ्चतन्मात्राओं के साथ गणित होकर २१ संख्यक बन कर संपूर्ण सृष्टि के विविध रूपों वाले पदार्थों को उत्पन्न करते हैं। वाचस्पति=प्रजापति उनके बलों को=सामर्थ्यों को मेरे अन्दर धारण करावे। मेरा यह तनू भी उन्हीं २१ तत्त्वों से निष्पन्न हुआ है, अतः उनके सामर्थ्यों से युक्त होवे ॥३१॥

---

१. प्रजापति वै वाचस्पतिः। शत० ५।१।१।१६॥ प्रजापति वै वाक्पतिः शत० ३।१।३।२२॥

शान्तिकरण[1]

विनियोग—निम्न मन्त्रों से 'ब्रह्माण्ड' के विभिन्न पदार्थ वा दैवी शक्तियां हमारे लिए सुखकारी होवें, ऐसी प्रभु से प्रार्थना करें—

शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रावरुणा रातहव्या ।
शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ ।१।।

१. पदार्थ—

शम्—सुखकारी
नः—हमारे लिये
इन्द्राग्नी—विद्युत और अग्नि
भवताम्—होवें
अवोभिः—रक्षा कर्मों के द्वारा

---

१. मध्यकालीत कर्मकाण्डी स्वस्तिवाचन के द्वारा किसी भी शुभ कर्म के समय कल्याण की कामना का विधान करते हैं, और शान्तिकरण द्वारा किसी उत्पात अनिष्ट के हो जाने पर उसकी शान्ति के लिए । महर्षि दयानन्द ने दोनों (स्वस्तिवाचन-शान्तिकरण) क्रियाओं द्वारा क्रियमाण कर्म के समय 'प्रभु के द्वारा निर्मित ब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थ वा विविध दैवी शक्तियां हमारे लिए कल्याण वा सुख देने वाली होवें' ऐसी प्रभु से प्रार्थना करने का विधान किया है ।

संस्कारविधि के तृतीय संस्करण के समय किसी प्रूफशोधक व्यक्ति ने शान्तिकरण पाठ में पूर्व-निर्दिष्ट भावना की झलक मानकर 'प्र' शब्द बढ़ा कर शान्तिप्रकरण बना दिया है, जो अजमेर-मुद्रित संस्कारविधि में २४ वें सं० तक छपता रहा । ऋषि दयानन्द पौराणिकों द्वारा शब्द का अर्थान्तर में प्रयोग किए जाने पर उस शब्द का परित्याग नहीं करते, अपितु शब्द का

शम्—सुखकारी [होवें][1]
नः—हमारे लिये
इन्द्रावरुणा—विद्युत् और वरणीय वायु
रातहव्या—दिये हैं भोग्य पदार्थ जिन्होंने
शम्—सुखकारी [होवें]
इन्द्रासोमा—विद्युत् और सोम=चन्द्र
सुविताय—उत्पत्ति के लिये
शं योः[2]—रोगों के शमन और भयों के दूर करने वाले साधनों की,
शम्—सुखकारी होवें
नः—हमारे लिए
इन्द्रापूषणा—विद्युत् और पुष्टिकर्त्ता मेघ
वाजसातौ—धन ऐश्वर्य की प्राप्ति जिसमें हो उस कृष्यादि कर्म में ॥१॥

भावार्थ—हे प्रभो ! आप की कृपा से विद्युत् और अग्नि अपने रक्षा रूप कर्मों के द्वारा हमारे लिए सुखकारी होवें। भोग्य पदार्थों के देने वाले विद्युत् और वायु हमारे लिए सुखकारी होवें। विद्युत् और सोम रोगों के शमन और भयों को दूर करने वाले साधनों की उत्पत्ति=प्राप्ति के लिए सुखकारी होवें। विद्युत् और मेघ धन ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति कराने वाले कृषि आदि कर्मों में सुखकारी होवें ॥१॥

शं नो भगः शमु नः शंसो अस्तु शं नः पुरन्धिः शमु सन्तु रायः ।
शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शं नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु ॥२॥

वास्तविक अर्थ में प्रयोग करने का विधान करते हैं। इसके लिए देखो सत्यार्थ प्रकाश समु० ११ में पञ्चायतन पूजा शब्द।

१. मन्त्र के जिस भाग में क्रिया प्रयुक्त नहीं होती है, वहां उसका अध्याहार या अनुषङ्ग कर लिया जाता है।

२. शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम् । निरुक्त ४।२१॥

२. पदार्थ—

शम्—सुखकारी [होवे]
नः—हमारे लिये
भगः[1]—सेवन करने योग्य सूर्य,
शम्—सुखकारी
उ—निश्चय से
नः—हमारे लिये
शंसः—शिक्षा=प्रशंसा
अस्तु—होवे
शम्—सुखकारी [होवे]
नः—हमारे लिये
पुरन्धिः[2]—अति मेधावी
शम्—सुखकारी
उ—निश्चय से
सन्तु—होवें

रायः—अनेकविध ऐश्वर्य
शम्—सुखकारी [होवे]
नः—हमारे लिये
सत्यस्य—सत्यस्वरूप
सुयमस्य—सुनियन्ता अधीक्षक राजा की
शंसः—शिक्षा-दण्डनीति
शम्—सुखकारी
नः—हमारे लिये

अर्यमा—न्यायकर्त्ता=न्यायाधीश
पुरुजातः[3]—बहुतों में प्रसिद्ध
अस्तु—होवे ॥२॥

भावार्थ—हे प्रभो ! आप की कृपा से सेवन करने योग्य प्रातः कालीन सूर्य, शिक्षा-प्रशंसा, अति मेधावी पुरुष, अनेकविध ऐश्वर्य, सत्यकर्मा सुनियन्ता अध्यक्ष की शिक्षा-दण्डनीति और अति प्रसिद्ध न्यायाधीश हमारे लिए सुखकारी होवें ॥२॥

---

१. तस्य [भगस्य] कालः प्रागुत्सर्पणात् । प्रातःकालीन सूर्य के सेवन से अनेक रोगों की निवृत्ति होती है । आदित्यं भास्करादिच्छेत् यह प्राचीन मनीषियों का कथन है ।   २. पुरन्धिः बहुधीः । निरुक्त ६।१३॥

३. ज्ञाजनोर्जा (अष्टा० ७।३।७९) आदेश-विधायक नियम द्वारा प्रज्ञापित समानार्थक 'जा' धातु से क्त प्रत्ययः । जातः=ज्ञातः=ज्ञात हुआ अर्थात् प्रसिद्ध ।

शं नो॑ धा॒ता शमु॑ ध॒र्ता नो॑ अस्तु॒ शं न॑ उ॒रूची॑ भवतु स्व॒धाभिः॑।
शं रोद॑सी बृह॒ती शं नो॒ अद्रिः॒ शं नो॑ दे॒वानां॑ सु॒हवा॑नि सन्तु॥३॥

३. पदार्थ—

शम्—सुखकारी [होवे]
नः—हमारे लिये
धाता[1]—सब को उत्पन्न करने वाला या धारण करने वाला वायु
शम्—सुखकारी
उ—निश्चय से
धर्ता—धारण करने वाला सूर्य
नः—हमारे लिये
अस्तु—होवे,
शम्—सुखकारी
नः—हमारे लिये
उरूची[2]—विस्तृत आकाश
भवतु—होवे
[3]स्वधाभिः—स्वयं धारण किये जलों के द्वारा।
शम्—सुखकारी होवें
[4]रोदसी—द्यावापृथिवी (=सूर्य और भूमि)
बृहती—महती
शम्—सुखकारी [होवे]
नः—हमारे लिये
अद्रिः[5]—पर्वत वा मेघ
शम्—सुखकारी
नः—हमारे लिये
देवानाम्—देवों=विद्वानों के
सुहवानि—सुन्दर आह्वान, प्रशंसापूर्वक बुलावे
सन्तु—होवें॥३॥

भावार्थ—हे प्रभो! आप की दया से वायु, सूर्य, जलों के द्वारा विस्तृत आकाश, महती द्यावापृथिवी (=सूर्य-भूमि), पर्वत वा

---

१. धाता सर्वस्य विधाता। निरुक्त ११।१०॥

२. उरु अञ्चतीति, उरु+अञ्चु+क्विप्, ङीप्। मध्यम स्थानीया पृथिवी=विस्तीर्णमन्तरिक्षम्। ३. स्वधा उदकनाम। निघण्टु १।१२॥

४. रोदसी द्यावापृथिवीनाम। निघण्टु ३।३०॥

५. अद्रि मेघनाम। निघण्टु १।१०॥

मेघ और देवों विद्वानों के प्रशंसापूर्वक बुलावे हमारे लिए सुखकारक होवें ॥३॥

शं नो॑ अ॒ग्निर्ज्योति॑रनीको अस्तु॒ शं नो॑ मि॒त्रावरु॑णाव॒श्विना॒ शम् ।
शं नः॑ सु॒कृतां॑ सुकृ॒तानि॑ सन्तु॒ शं न॑ इषि॒रो अ॒भि वा॑तु॒ वातः॑ ॥४॥

४. पदार्थ—

शम्—सुखकारी
नः—हमारे लिये
अग्निः—अग्नि
ज्योतिरनीकः—प्रकाश ही जिसका बल है
अस्तु—होवे,
शम्—सुखकारी [होवें]
नः—हमारे लिये
मित्रावरुणौ—प्राण और अपान,
अश्विना—सूर्य और चन्द्र (प्रकाशक प्रकाश्य लोक)
शम्—सुखकारी होवें,
शम्—सुखकारी
नः—हमारे लिये
सुकृताम्—उत्तम कर्म करने वालों के
सुकृतानि—उत्तम कर्म
सन्तु—होवें,
शम्—सुखकारी
नः—हमारे लिये
[1]इषिरः—गतिशील
अभिवातु—सब ओर बहे
वातः—वायु ॥४॥

भावार्थ—हे प्रभो आप की कृपा से प्रकाश ही जिसका बल है ऐसा पार्थिव अग्नि, प्राण-अपान, सूर्य-चन्द्र (प्रकाशक-प्रकाश्य लोक), उत्तम कर्म करने वालों के उत्तम आचरण हमारे लिए सुखकारी होवें और गतिशील वायु हमारे लिए सुखकारी बहे ॥४॥

---

१. इष गतौ+किरच् । उणादि १।५१॥

शं नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्षं दृशये नो अस्तु ।
शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु शं नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णुः ॥५॥

५. पदार्थ —

शम्—सुखकारी [होवें]
नः—हमारे लिये
[1]द्यावापृथिवी—द्यु और पृथिवी=प्रकाश और अन्धकार
[1]पूर्वहूतौ—पूर्व=प्रथम ह्वान =शब्द जिसमें होता है, उस उषःकाल में,
शम्—सुखदायक
अन्तरिक्षम्—अन्तरिक्ष= आकाश
दृशये—देखने के लिये
नः—हमारे
अस्तु—होवे
शम्—सुखकारी
नः—हमारे लिये
[1]ओषधीः—ओषधियां [और]
[1]वनिनः—वृक्ष वनस्पतियां
भवन्तु—होवें ।
शम्—सुखकारी
नः—हमारे लिये
रजसस्पतिः—लोक लोकान्तरों का पालक
अस्तु—होवे
जिष्णुः—सूर्य ॥५॥

भावार्थ—हे प्रभो ! आप की कृपा से उषःकाल के समय प्रकाश और अन्धकार दोनों (संयुक्त हुए), अन्तरिक्ष दर्शन=दृष्टि की व्यापकता के लिए, ओषधियां और वृक्ष वनस्पतियां तथा लोक-लोकान्तरों का रक्षक सूर्य हमारे लिए सुखकारी होवे ।

विशेष—१. उषःकाल में द्युलोक=ऊपर की ओर प्रकाश और पृथिवी लोक=नीचे की ओर अन्धकार रहता है। उस प्रकाश और अन्धकार को तात्स्थ्य नियम से द्यु और पृथिवी कहा है ।

---

१. इस मन्त्र के भावार्थ के पश्चात् विशेष शीर्षक लेख देखो ।

२. पूर्वहूति शब्द का प्रयोग प्रायः उषा देवता के मन्त्रों में ही मिलता है। रात्रि में व्याप्त निस्तब्धता उषाकाल में प्रथम होने वाले शब्द से भंग होती है।

३. जो पौधे फल पकने के बाद सूख जाते हैं वे ओषधियां कहाती हैं। जैसे गेंहू जौ चना; पुष्परहित फल वाले वनस्पति, जैसे गूलर पीपल आदि; पुष्प और फल वाले वृक्ष, जैसे आम केला आदि; वेलें झाड़ियां क्षुप कहाती हैं॥ द्र० मनु १।४६-४७॥

४. वनों में प्राधान्य वृक्ष वनस्पतियों का होता है, इसलिए 'वनमस्मिन्नस्ति' वनिनः का अर्थ वृक्ष वनस्पतियां किया है। वन संभक्तौ+इनि धात्वर्थानुसार यह ओषधियों का विशेषण भी बन सकता है। वनिनः= सेवनीय ॥५॥

शं न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः।
शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु ॥६॥

६. पदार्थ—

शम्—सुखकारी
नः—हमारे लिये
इन्द्रः—विद्युत्
[१]वसुभिः—जीवन के हेतु मरुतों=वायुओं के साथ
देवः—दिव्यगुणयुक्त
अस्तु—होवे,
शम्—सुखकारी [होवे]
[२]आदित्येभिः—बारह मासों में विभक्त आदित्य के साथ
[२]वरुणः—संवत्सर

---

१. वसुरन्तरिक्षसत् (यजुः १२।१४) अस्य मन्त्रस्य व्याख्याने वायुर्वै वसुरन्तरिक्षसत्। शत० ६।७।३।११॥

२. वरुण आदित्यैरुदक्रामत्। ऐ० ब्रा० १।२४॥ संवत्सरो वै वरुणः। शत० ४।१।४।१०॥ कतम आदित्या इति? द्वादशमासाः संवत्सरस्य। शत० ११।६।३।८॥

सुशंसः—उत्तम स्तुति योग्य,
शम्—कल्याणकारी [होवे]
नः—हमारे लिये
[1]रुद्रः—आत्मा
[1]रुद्रेभिः—प्राणों के साथ
[2]जलाषः—दुःखनिवारण
करने वाला
शम्—सुखकारी [होवे]
नः—हमारे लिये
[3]त्वष्टा—[प्रकाश के द्वारा] रूपों को पृथक् करने वाला सूर्य
[4]ग्नाभिः—गतिशील रश्मियों के साथ
इह—यहां [इस लोक में]
[5]श्रृणोतु—प्राप्त होवे ॥६॥

भावार्थ—हे प्रभो ! आप की कृपा से मरुतों के साथ दिव्य गुणवाली विद्युत्, बारह मासों से युक्त स्तुतियोग्य संवत्सर, प्राणों के साथ दुःखनिवारक आत्मा हमारे लिए कल्याणकारी होवें, तथा रश्मियों के साथ सुखकारी सूर्य इस लोक में हमें प्राप्त होवे, अर्थात् सुखकारी होवे ॥६॥

शं नः सोमो भवतु ब्रह्म शं नः शं नो ग्रावाणः शमु सन्तु यज्ञाः।
शं नः स्वरूणां मितयो भवन्तु शं नः प्रस्वः शम्वस्तु वेदिः ॥७॥

---

१. वास्तव्यो वा एष देवः (रुद्रः)। शत० ५।२।४।१३॥ वासः=निवास करने वाला, वस्तेस्तव्यत् कर्तरि णिच्च। महा० ३।१।९६ वा०। प्राणा वै रुद्राः। प्राणाः हीदं सर्वं रोदयन्ति। जै० उ० ब्रा० ४।२।६॥ कतमे रुद्राः? दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मा एकादशः। ते यदस्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्ति, अथ रोदयन्ति। तद्यद् रोदयन्ति तस्माद् रुद्राः। शत० ११।६।३।७॥

२. द्र० इसी मन्त्र का दयानन्द भाष्य।

३. त्वष्टा हि रूपाणि विकरोति। तै० ब्रा० २।७।२।१॥

४. छन्दांसि वै ग्नाः। शत० ६।५।४।७॥
छन्दांसि सूर्यरश्मयः। द्र० वैदिक छन्दोमीमांसा पृष्ठ ६-७।

५. श्रवति वेदे गत्यर्थोऽपि। द्र० सं० धातुकोष श्रु धातु, पृष्ठ १४२।

७. पदार्थ—

शम्—सुखकारी [होवे]
नः—हमारे लिये
सोमः—सोम [यज्ञीय ओषधियों का स्वामी]
भवतु—होवे,
ब्रह्म—वेद के मन्त्र
शम्—सुखकारी होवें,
नः—हमारे लिये,
शम्—सुखकारी होवें,
नः—हमारे लिये
ग्रावाणः—[वेदि के लिये उपयुक्त] ईंटें,
शम् उ—सुखकारी ही
सन्तु—होवें
यज्ञाः—विविध प्रकार के यज्ञ।
शम्—सुखकारी
नः—हमारे लिये
स्वरूणाम्—यज्ञीय स्तम्भों के
मितयः—प्रमाण=नाप
भवन्तु—होवें
शम्—सुखकारी [होवें]
नः—हमारे लिये
[1]प्रस्वः—ओषधियां,
शम् उ—सुखकारी ही
अस्तु—होवे
वेदिः—यज्ञीय वेदि ॥७॥

भावार्थ—हे प्रभो ! आप की कृपा से ओषधियों का स्वामी सोम, वेद के मन्त्र, वेदि में उपयुक्त ईंटें, विविध प्रकार के यज्ञ, यज्ञीय स्तम्भों के प्रमाण=नाप, ओषधियां तथा वेदि ये सब यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाली वस्तुयें हमारे लिए सुखकारी होवें। अर्थात् यज्ञ और उससे सम्बद्ध समस्त वस्तुयें हमारे लिए सुखकारी होवें ॥७॥

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु ।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ॥८॥

---

१. द्र० इसी मन्त्र का दयानन्द भाष्य।

८. पदार्थ—

शम्—सुखकारी
नः—हमारे लिये
सूर्यः—सूर्य
उरुचक्षाः—बहुत पदार्थों को दिखानेवाला
उदेतु—उदित होवे,
शम्—सुखकारी
नः—हमारे लिये
चतस्रः—चारों
प्रदिशः—व्यवहार की साधक दिशायें
भवन्तु—होवें,
शम्—सुखकारी
नः—हमारे लिये
पर्वताः—पर्वत
ध्रुवयः—स्थिरता के हेतु
भवन्तु—होवें,
शम्—सुखकारी
नः—हमारे लिये
सिन्धवः—नदियां,
शम् उ—सुखकारी ही
सन्तु—होवें
आपः—जल ॥८॥

भावार्थ—हे प्रभो ! आप की कृपा से हमारे लिए सुखकारी सूर्य उदय होवे, चारों दिशायें, पर्वत, नदियां तथा जल, सभी हमारे लिए सुखकारी होवें ॥८॥

शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः ।
शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तुवायुः ॥९॥

९. पदार्थ—

शम्—सुखकारी
नः—हमारे लिये
अदितिः—पृथिवी
भवतु—होवे
[1]व्रतेभिः—अन्न आदि भोग्य पदार्थों के द्वारा,
शम्—सुखकारी
नः—हमारे लिये

१. अन्नमपि व्रतमुच्यते । निरुक्त २।१३ ॥

भवन्तु—होवें
मरुतः—प्राण
स्वर्काः—स्तुति-योग्य
शम्—सुखकारी [होवे]
नः—हमारे लिये
विष्णुः—सूर्य
शम् उ—सुखकारी ही
पूषा—पुष्टिकर्ता मेघ
नः—हमारे लिये
अस्तु—होवे
शम्—सुखकारी [होवे]
नः—हमारे लिये
[1]भवित्रम्—द्युलोक,
शम् उ—सुखकारी ही
अस्तु—होवे
वायुः—वायु ॥९॥

भावार्थ—हे प्रभो ! आप की कृपा से अन्नादि भोग्य पदार्थों के द्वारा पृथिवी, स्तुति-योग्य प्राण, सूर्य, मेघ, द्युलोक और वायु हमारे लिए सुखकारी होवें ॥९॥

शं नो॑ दे॒वः स॑वि॒ता त्राय॑माणः॒ शं नो॑ भवन्तू॒षसो॑ विभा॒तीः ।
शं नः॑ प॒र्जन्यो॑ भवतु प्र॒जाभ्यः॒ शं नः॒ क्षेत्र॑स्य॒ पति॑रस्तु श॒म्भुः ॥१०॥

१०. पदार्थ—

शम्—सुखकारी [होवे]
नः—हमारे लिये
देवः—दिव्य शक्तिवाला
सविता—उदीयमान सूर्य
त्रायमाणः—[अन्धकार तथा कृमि आदि से] रक्षा करने वाला
शम्—सुखकारी
नः—हमारे लिये
भवन्तु—होवें
उषसः—प्रभात वेलायें
विभातीः—प्रचुर प्रकाश वाली
शम्—सुखकारी
नः—हमारे लिये
पर्जन्यः—बरसनेवाला मेघ
भवतु—होवे
प्रजाभ्यः—प्रजाओं के लिये,
शम्—सुखकारी

---

१. भवित्रम्=भविष्यत्, असौ [द्युलोकः] भविष्यत् । तै० ब्रा० ३।८।१८।६॥

नः—हमारे लिये
¹क्षेत्रस्य—पृथिवी का
पतिः—स्वामी
अस्तु—होवे
शंभुः—कल्याण का भावयिता [भूमिगत अग्नि]।१०।

भावार्थ—हे प्रभो ! आप की कृपा से अन्धकार तथा कृमि आदि से रक्षा करनेवाला, दिव्य शक्तिवाला उदीयमान सूर्य, प्रचुर प्रकाश वाली उषायें, बरसने वाला मेघ और पृथिवी का स्वामी [पृथिवी गर्भस्थ] अग्नि ये सब हमारी प्रजाओं के लिए सुखकारी होवें ॥१०॥

शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु ।
शमभिषाचः शमु रातिषाचः शं नो दिव्याः पार्थिवाः शं नो अप्याः ॥

शम्—कल्याणकारी
नः—हमारे लिये
देवाः—दिव्य गुण कर्म स्वभाव वाले
विश्वदेवाः—सब विद्वान्
भवन्तु—होवें
शम्—सुखकारी
¹सरस्वती—ज्ञान-समन्वित वाणी, अथवा विज्ञान-धारा
सह—साथ
²धीभिः—कर्मों के
अस्तु—होवे
शम्—सुखकारी [होवें]
अभिषाचः—सब ओर से सम्बन्ध रखनेवाले साधारण जन
शम् उ—सुखकारी ही [होवें]
रातिषाचः—विविध प्रकार के दानों से सम्बद्ध दाता जन
शम्—सुखकारी [होवें]
नः—हमारे लिये
दिव्याः—द्युलोकस्थ देवगण = दैवी शक्तियां

१. इयं वै क्षेत्रं पृथिवी । गो० ब्रा० उ० ५।१०॥
२. सरस्वती वाङ्नाम (निघण्टु १।११) ।
३. धीः कर्मनाम । निघण्टु २।१॥

पार्थिवाः—पृथिवीलोकस्थ देवगण=दैवी शक्तियां
शम्—सुखकारी [होवें],
नः—हमारे लियें
[1]अप्या—अन्तरिक्षस्थ देवगण =दैवी शक्तियां ॥११॥

भावार्थ—हे प्रभो ! आप की कृपा से दिव्य गुण कर्म स्वभाव वाले समस्त विद्वान्, कर्म-समन्वित ज्ञान, सब ओर से सम्बन्ध रखने वाले साधारण जन, विविध प्रकार के दान देनेवाले दाता जन, एवं द्युलोक पृथिवीलोक और अन्तरिक्षलोक से सम्बद्ध दैवी शक्तियां हमारे लिए कल्याणकारी होवें ।

विशेष—१. विविध प्रकार के अभावों से पीड़ित मानव-समाज को अपनी विद्या अन्न धन-सम्पत्ति आदि देकर सुखी बनाने वाले जन हमारे समाज में अधिकता से होवें ।

२. ज्ञान-सम्बद्ध कर्म और कर्म-सम्बद्ध ज्ञान से ही मनुष्य लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है । इसलिए इस मन्त्र में ज्ञान के साथ कर्म का समन्वय आवश्यक बताया है । यजुर्वेद (४०।१४) के प्रसिद्ध मन्त्र विद्यां चाविद्यां च० में भी विद्या=ज्ञान और अविद्या (विद्या से भिन्न)=कर्म के सहभाव को ही मृत्यु से पार होकर अमृत=मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला कहा है ॥११॥

शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः ।
शं न ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु ॥१२॥

१२. पदार्थ—

शम्—सुखकारी
नः—हमारे लियें
[2]सत्यस्य—वेद विद्या के
पतयः—पालक विद्वान्
भवन्तु—होवें,
शम्—सुखकारी [होवें]

---

१. आपः—अन्तरिक्षनाम । निघण्टु १।३॥

२. तद् यत्सत्यंत्रयी सा विद्या । शत० ६।५।१।१८॥

नः—हमारे लिये
अर्वन्तः—शीघ्रगामी अश्व आदि वाहन,
शम् उ—सुखकारी हो
सन्तु—होवें
गावः—[दुग्धादि भोग्य पदार्थों के देने वाले] गौ आदि पशु,
शम्—सुखकारी [होवें]
नः—हमारे लिये
[1]ऋभवः—शिल्पी जन
सुकृतः—उत्तम पदार्थों के बनाने वाले=चतुर
सुहस्ताः—उत्तम हाथों=साधनों वाले,
शम्—सुखकारी
नः—हमारे लिये
भवन्तु—होवें
पितरः—माता पिता आदि के समान पालक
हवेषु—[सहायता के लिये] बुलाने पर ॥१२॥

भावार्थ—हे प्रभो! आप की कृपा से वेदविद्या के पालक, उत्तम साधनों वाले चतुर शिल्पीजन, अश्वादि वाहन, दुग्धादि पदार्थों के देनेवाले गौ आदि पशु, तथा आवश्यकता पड़ने पर पुकारे जाने पर माता पिता के समान पालना करनेवाले सहायक जन हमारे लिए सुखकारी होवें ॥१२॥

शं नो॑ अ॒ज एक॑पाद्दे॒वो अ॑स्तु॒ शं नोऽहि॑र्बु॒ध्न्यः॑ शं स॑मु॒द्रः ।
शं नो॑ अ॒पां नपा॑त्पे॒रुर॑स्तु॒ शं नः॒ पृश्नि॑र्भवतु दे॒वगो॑पा ॥१३॥

ऋ० मं० ७। सू० ३५। मं० १-१३॥

१३. पदार्थ—

शम्—सुखकारी
नः—हमारे लिये
[2]अजः एकपात्—सूर्य
देवः—दिव्य गुणों वाला

---

१. द्र० 'विष्ट्वी शमी······ऋभवः' (ऋक् १।११०।४) अस्य व्याख्याने निरुक्तम्—कर्माणि कृत्वा क्षिप्रत्वेन······(११।१६)। ऋभुः मेधावीनाम। निघण्टु ३।१५॥ २. तं सूर्यं देवमजमेकपादम्। तै० ब्रा० ३।१।२।८॥

अस्तु—होवे,
शम्—सुखकारी [होवे]
नः—हमारे लिये
[1]अहिर्बुध्न्यः—अन्तरिक्ष-स्थानीय मेघ
शम्—सुखकारी [होवे]
समुद्रः—समुद्र
शम्—सुखकारी
नः—हमारे लिये
[2]अपांनपात्—जल जिसके पुत्र हैं, वह विद्युत्
[3]पेरुः—पालन करने वाला
अस्तु—होवे
शम्—सुखकारी
नः—हमारे लिए
[4]पृश्निः—विविध रूपों वाली पृथिवी
भवतु—होवे
देवगोपा—दिव्य शक्तियों से रक्षित ॥१३॥

भावार्थ—हे प्रभो ! आप की कृपा से दिव्य गुणोंवाला अज एकपात्=सूर्य, अहिर्बुध्न्य=मेघ, समुद्र, पालन करनेहारा अपां नपात्=विद्युत् तथा दिव्य शक्तियों से रक्षित पृश्नि=पृथिवी हमारे लिए सुखकारी होवे ॥१३॥

इन्द्रो विश्वस्य राजति । शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥१४॥

१४. पदार्थ—

इन्द्रः—प्रदीप्त सूर्य
विश्वस्य—विश्व का
राजति—प्रकाश करता है
शम्—सुखकारी
नः—हमारे लिये
अस्तु—होवे

---

१. योऽहिः स बुध्न्यः, बुध्नमन्तरिक्षम्, तन्निवासात् । निरुक्त १०।४४।।

२. यो अनिध्मो दीदयदप्स्वन्तः······अपां नपात्······।ऋ० १०।३०।४।। द्र० निरुक्त १०।१६।।

३. पॄ पालनपूरणयोः+उः । पृषोदरादित्वाद् रूपसिद्धिः ।

४. इयं [पृथिवी] वै पृश्निः । तै० ब्रा० १।४।१।५।।

द्विपदे—दो पैरवाले मनुष्य आदि प्राणियों के लिये	शम्—सुखकारी [होवे]
	चतुष्पदे—चार पैरवाले पशुओं के लिये ॥१४॥

भावार्थ—हे प्रभो ! जो प्रदीप्त सूर्य संसार का प्रकाशक है, वह आप की कृपा से दो पैरवाले और चार पैरवाले प्राणियों के लिए सुखकारी होवे ॥१४॥

शं नो वातः पवताᳬं शं नस्तपतु सूर्यः ।
शं नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्यो अभि वर्षतु ॥१५॥

१५. पदार्थ—

शम्—सुखकारी	शम्—सुखकारी
नः—हमारे लिये	नः—हमारे लिये
वातः—वायु	कनिक्रदत्—गड़गड़ाता हुआ
पवताम्—बहे	देवः—दिव्य शक्तिवाला
शम्—सुखकारी	पर्जन्यः—बरसनेवाला मेघ
नः—हमारे लिये	अभि—सब ओर
तपतु—तपे	वर्षतु—वर्षा करे ॥१५॥
सूर्यः—सूर्य	

भावार्थ—हे प्रभो ! आप की कृपा से वायु हमारे लिए सुखकारी बहे। सूर्य हमारे लिए सुखकारी तपे। गड़गड़ाता हुआ वर्षक मेघ हमारे लिए सब ओर सुखकारी वर्षा करे। अर्थात् ये सब देव हमारे लिए अपने अपने कर्मों के द्वारा सुखकारी होवें ॥१५॥

अहानि शं भवन्तु नः शᳬं रात्रीः प्रति धीयताम् ।
शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रावरुणा रातहव्या ।
शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः ॥
यजुः अ० ३६ । मं० ८,१०,११॥

१६. पदार्थ—

अहानि—दिन
शम्—सुखकारी
भवन्तु—होवें
नः—हमारे लिये,
शम्—सुख को
रात्रीः—रात्रियां
प्रतिधीयताम्—धारण करें,
शम्—सुखकारी
नः—हमारे लिये
इन्द्राग्नी—सूर्य और अग्नि
भवताम्—होवें
अवोभिः—दीप्तियों=प्रकाशों के द्वारा,
शम्—सुखकारी
नः—हमारे लिये
इन्द्रावरुणा—प्राण और अपान
रातहव्या—हव्य=जीवन को देनेवाले,
शम्—सुखकारी
नः—हमारे लिये
इन्द्रापूषणा—विद्युत् और पुष्टिकर्त्ता मेघ
वाजसातौ—अन्न=भोग्य पदार्थों के देने में,
शम्—सुखकारी
इन्द्रासोमा—सूर्य और चन्द्र
सुविताय—प्रेरणा के लिये
शं योः—सुख की ॥१६॥

भावार्थ--हे प्रभो ! आप की कृपा से दिन हमारे लिए सुखकारी होवें। रात्रियां हमारे लिए सुख को धारण करें। सूर्य और अग्नि अपनी दीप्तियों से हमारे लिए सुखकारी होवें। प्राण और अपान हमारे लिये सुखकारी जीवन को देनेवाले होवें। विद्युत् और मेघ अन्न आदि के प्रदान करने में सुखकारी होवें, तथा सूर्य और चन्द्र सुख की प्रेरणा से सुखकारी होवें ॥१६॥

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये ।
शं योरभि स्रवन्तु नः ॥१७॥

१७. पदार्थ —

शम्—सुखकारी
नः—हमारे लिये
देवीः—दिव्य गुणवाले
अभिष्टये—अभीष्ट सुख की प्राप्ति के लिये
आपः—जल
भवन्तु—होवें, [और]
पीतये—पीने के लिये,
शं योः—सुख की
अभिस्रवन्तु—सब ओर से वर्षा करें
नः—हमारे लिए ॥१७॥

भावार्थ—हे प्रभो ! आप की कृपा से दिव्य गुण वाले जल अभीष्ट सुख की प्राप्ति और पीने के लिए सुखकारी होवें और सब ओर से हमारे लिए सुख की वर्षा करें[1] ॥१७॥

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्ति-रोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।१८।

१८. पदार्थ—

द्यौः—द्युलोक
शान्तिः—दुःखनाशक [होवे],
अन्तरिक्षम्—मध्यवर्ती आकाश
शान्तिः—दुःखनाशक [होवे],
पृथिवी—पृथिवी
शान्तिः—दुःखनाशक [होवें],
आपः—जल
शान्तिः—दुःखनाशक [होवें]
[2]ओषधयः—ओषधियां
शान्तिः—दुःखनाशक [होवें],
[2]वनस्पतयः—वनस्पतियां

---

१. अध्यात्मपरक अर्थ सन्ध्या (पृष्ठ २६, ३०) में देखें।
२. ओषधि वनस्पति का भेद पूर्व पृष्ठ १४२ पर देखें।

शान्तिः—दुःखनाशक [होवें]
ब्रह्म—वेद=ज्ञान
शान्तिः—दुःखनाशक [होवे],
सर्वम्—सब पदार्थ
शान्तिः—दुःखनाशक [होवें]
शान्तिः—शान्ति
एव—ही
शान्तिः—शान्ति [प्राप्त होवे]
सा—वह [सब प्रकार की]
मा—मेरी
शान्तिः—शान्ति
एधि—बढ़े ॥१८॥

भावार्थ—हे प्रभो ! आप की कृपा से द्युलोक, अन्तरिक्षलोक, पृथिवीलोक, जल, ओषधियां, वनस्पतियां, सब दिव्य शक्तियां, सब पदार्थ मुझे शान्ति देनेवाले होवें; मुझे शान्ति ही शान्ति प्राप्त होवे। वह मेरी सब प्रकार की शान्ति बढ़े, अर्थात् मैं पूर्ण शान्ति का अनुभव करूं ॥१८॥

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥१९॥

यजुः अ० ३६। मं० १२, १७, २४॥

१९. पदार्थ—

तत्—वह
चक्षुः—सबको दृष्टि देनेवाला
देवहितम्—दिव्य शक्तियों से धारण किया हुआ
पुरस्तात्—पूर्व दिशा में
शुक्रम्—शुद्ध प्रकाशस्वरूप सूर्य
उच्चरत्—उदित होता है
पश्येम—देखें
शरदः—वर्ष

शतम्—सौ
जीवेम—जीवें
शरदः—वर्ष
शतम्—सौ
शृणुयाम—सुनें
शरदः—वर्ष
शतम्—सौ
अदीनाः—दीनता से रहित
स्याम—होवें
शरदः—वर्ष
शतम्—सौ
भूयः—अधिक भी
च—और
शरदः—वर्ष
शतात्—सौ से, देखें, जीवें, सुनें, बोलें, अदीन रहें ॥१९॥

भावार्थ—हे प्रभो ! दिव्य शक्तियों से द्युलोक में स्थापित सब को दृष्टि देनेवाला, प्रकाशस्वरूप सूर्य पूर्व दिशा में उदित होता है। हम आप की कृपा से उस सूर्य से जीवन-शक्ति प्राप्त[1] करके सौ वर्षों तक देखें, जीवें, सुनें, बोलें, दीनता-रहित (स्वस्थ) रहें, और सौ वर्षों से अधिक भी दर्शन आदि क्रियाओं में समर्थ होवें[2] ॥१९॥

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥२०॥

२०. पदार्थ—

यत्—जो
जाग्रतः—जागते हुए का
दूरम्—दूर तक
उदैति—जाता है
दैवम्—दिव्य शक्तिवाला
तत् उ—वही
सुप्तस्य—सोते हुए का
तथा एव—उसी प्रकार

---

१. 'आरोग्यं भास्करादिच्छेत्' यह किसी आप्त का वचन है। वेद में भी समस्त स्थावर जंगम का आत्मा=जीवन देनेवाला सूर्य को कहा गया है—'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (यजुः ७।४२)।

२. अध्यात्मपरक अर्थ संख्या (पूर्व पृष्ठ ५२) में देखें।

एति—दूर तक जाता है
दूरं गमम्—दूर तक जाने वाला
ज्योतिषाम्—प्रकाशकों=ज्ञान करानेवाली इन्द्रियों का
ज्योतिः—प्रकाशक, ज्ञान में साधक है
एकम्—प्रधान,
तत्—वह
मे—मेरा
मनः—मन
शिवसंकल्पम्—शुभ संकल्प=विचार हैं जिसमें, अर्थात् शुभ विचारोंवाला
अस्तु—होवे॥२०॥

भावार्थ—हे प्रभो! मेरा दिव्य शक्तिवाला जो मन जागते हुए का वा सोते हुए का दूर दूर तक जाता है--चिन्तन करता है, जो सभी ज्ञान-साधक इन्द्रियों का प्रधान ज्योति प्रकाशक है, वह मेरा मन आप की कृपा से शुभ विचारवाला होवे ॥२०॥

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥२१॥

२१. पदार्थ—

येन—जिसके द्वारा
[1]कर्माणि—करने योग्य
[1]अपसः—कर्मों को
मनीषिणः—मनस्वी लोग
[2]यज्ञे—यज्ञों में
कृण्वन्ति—करते हैं
[3]विदथेषु—विशेष ज्ञान पूर्वक किये जाने वाले

---

१. अपः कर्मनाम (निघण्टु २।१) एकार्थक दो 'अपः' और 'कम' शब्दों का प्रयोग होने पर विशेषण विशेष्य रूप से अर्थ करना ठीक होता है। अतः यहां 'कर्माणि' का अर्थ 'करने योग्य' अर्थ किया है।

२. जाति में एकवचन है।

३. 'विदथ' भी यज्ञनामों में पढ़ा है (निघण्टु ३।१७)। अतः यहां विदथ (=विद ज्ञाने+अथ, उणादि) का अर्थ 'विज्ञानपूर्वक किये जाने वाले' किया है।

धीराः—धीर पुरुष
यत्—जो
अपूर्वम्—अपूर्व
[1]यक्षम्—पूजनीय
अन्तः—भीतर [वर्तमान है]
[2]प्रजानाम्—उत्तमता से उत्पन्न होनेवाली नुओं=शरीरों के आगे
—पूर्ववत् ॥२१॥

भावार्थ—हे प्रभो ! जिस मन की सहायता से मनस्वी धीर पुरुष विशेष ज्ञानपूर्वक किये जाने वाले यज्ञों में कर्त्तव्य=करने योग्य कर्मों को करते हैं, जो शरीरों के भीतर अपूर्व पूजनीय रूप में विद्यमान है, वह मेरा मन आप की कृपा से शुभ विचारोंवाला होवे ॥२१॥

यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥२२॥

२२. पदार्थ—

यत्—जो
प्रज्ञानम्—ज्ञान का साधक
उत—और
चेतः—चेतना का आधार
धृतिः—धैर्य का साधक
च—और
यत्—जो
ज्योतिः—ज्ञान का प्रकाशक
अन्तः—भीतर=छिपा हुआ [विद्यमान] है
अमृतम्—मरण धर्म से रहित
प्रजासु—शरीरों में,
यस्मात्—जिसके
न—नहीं
ऋते—विना

१. यक्ष पूजायाम्, चुरादि ।
२. प्रकर्षेण जायन्त इति प्रजाः तन्वः ।

किञ्चन—कोई भी
कर्म—कर्म
क्रियते—किया जाता है
आगे—पूर्ववत् ॥२२॥

भावार्थ—हे प्रभो ! जो मेरा मन ज्ञान का साधन और चेतना का आधार है, जो शरीरों में छिपा हुआ, मरणधर्म-रहित, ज्ञान का प्रकाशक है, जिसकी सहायता के विना कोई भी. कर्म नहीं किया जा सकता, वह मेरा मन आप की कृपा से शुभ विचारों वाला होवे ॥२२॥

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥२३॥

२३. पदार्थ—

येन—जिसने
इदम्—इस
भूतम्—भूतकाल को
भुवनम्—वर्तमान काल को
भविष्यत्—भविष्यत् काल को
परिगृहीतम्—[अपनी चिन्तन शक्ति से] पकड़ा हुआ है
अमृतेन—मरणधर्म से रहित ने
सर्वम्—सब को
येन—जिसकी सहायता से
[1]यज्ञः—सब शुभ कर्म, वा अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञ
तायते—विस्तृत किया जाता है
[1]सप्त होता—सात होताओं से किया जाने वाला
आगे—पूर्ववत् ॥२३॥

भावार्थ—हे प्रभो ! जिस मन ने अपनी चिन्तन शक्ति से भूत वर्तमान और भविष्यत् तीनों कालों को पकड़ रखा है, जो सभी कालों

१. भावार्थ के आगे विशेष देखो ।

के कार्यों का चिन्तन करने का सामर्थ्य रखता है, और जिस मन की शक्ति से सात होताओं द्वारा किये जाने वाले शुभ कर्म वा अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त यज्ञ किए जाते हैं, वह मेरा मन आप की कृपा से शुभ विचारों वाला होवे ।

विशेष—अध्यात्म की दृष्टि से शुभकर्म रूप यज्ञ के सात होता हैं—२ आंखें, २ नाक, २ कान और मुख। कर्मकाण्ड पक्ष में सात होता हैं—होता, उद्गाता, अध्वर्यु, अग्नीत्, ब्रह्म, यजमान और यजमान-पत्नी ।।२३।।

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।२४।।

२४. पदार्थ—

यस्मिन्—जिस [मन] में
ऋचः—ऋग्वेद वा पृथिवी-लोक सम्बन्धी ज्ञान
साम—सामवेद वा द्युलोक सम्बन्धी ज्ञान
यजूंषि—यजुर्वेद वा अन्तरिक्ष-लोक सम्बन्धी ज्ञान
यस्मिन्—जिसमें
प्रतिष्ठिता:—ठहरा हुआ है
रथनाभौ—रथ की नाभि में
इव—जैसे
आराः—आरे,
यस्मिन्—जिसमें
चितम्—चिन्तन-शक्ति
सर्वम्—सब
ओतम्—ओत-प्रोत है
प्रजानाम्—प्राणियों की
आगे—पूर्ववत् ।।२४।।

भावार्थ—हे प्रभो ! जिस मन में रथनाभि में आरों के समान सब प्रकार का ज्ञान-विज्ञान ठहरा हुआ है, जिस में प्राणियों की चिन्तन-शक्ति वस्त्र में सूत के समान ओत-प्रोत है, वह मेरा मन आप की कृपा से शुभ विचारोंवाला होवे ।।२४।।

विशेष—१. ऋक् यजुः साम तीनों का सम्बन्ध तीनों लोकों के साथ प्राचीन ऋषियों ने बताया है। इसलिए हमने यहां तास्थ्य नियम से तीनों वेदों में क्रमशः तीनों लोकों का जो ज्ञान है उसका निर्देश किया है।

२. मन्त्र मे तीन वेदों का निर्देश होने से यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि अथर्ववेद का निर्देश क्यों नहीं किया। तीनों वेदों में तीनों लोकों से सम्बद्ध ज्ञानों का निर्देश है और अथर्व में इन तीनों लोकों से सम्बद्ध विज्ञान= विशिष्ट ज्ञान का। अतः विषय विभाग की दृष्टि से वह तीनों के अन्तर्गत आ जाता है।

३. आश्रम व्यवस्था के अनुसार ऋग्वेद में ब्रह्मचर्य काल में ग्रहण करने योग्य ज्ञान काण्ड का वर्णन है। विद्यार्थी का प्रधान कर्त्तव्य ज्ञानोपार्जन ही है। यजुर्वेद में गृहस्थ किए जाने वाले कर्मकाण्ड का और सामवेद में वानप्रस्थ में चिन्तनीय उपासना काण्ड का अथर्ववेद में चतुर्थ आश्रमस्य ब्रह्मवेत्ता सन्यासी, जो कि तीनों वर्णों का उपदेष्टा और नियन्त्रक है, की दृष्टि से विज्ञान काण्ड का प्रतिपादन किया है।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥२५॥

यजुः अ० ३४। मं० १-६॥

२५. पदार्थ—

सुसारथिः—अच्छा सारथि
अश्वान्—घोड़ों को,
इव—जैसे
यत्—जो
मनुष्यान्—मनुष्यों को

नेनीयते—पुनः पुनः घुमाता है।
अभीशुभिः—रश्मियों= लगानों वा शक्तियों से
वाजिनः—बलवानों को
इव—जैसे,

[1]हृत्प्रतिष्ठम्—हृदय=चेतना-स्थान में स्थित
यत्—जो
[2]अजरिम्=गतिशील-चंचल
[2]जविष्ठम्—शीघ्रगामी वा बलवान् [है]
आगे—पूर्ववत् ।।२५।।

भावार्थ—हे प्रभो! जैसे उत्तम कुशल सारथि घोड़ों को लगामों की सहायता से इच्छानुसार गन्तव्य स्थानों को प्राप्त कराता है, वैसे ही मन अपनी दुर्दमनीय शक्तियों से बलवान् मनुष्यों को भी इधर उधर भटकाता रहता है। जो चेतना-स्थान में स्थित है, चञ्चल और शीघ्रगामी वा बलवान् है, वह मेरा मन आप की कृपा से शिव संकल्प वाला होवे ।।२५।।

स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते ।
शं राजन्नोषधीभ्यः ।।२६।। साम० उत्तरा० प्रपा० १। मं० ३।।

२६. पदार्थ—

[3]सः—वह इन्दु=परमैश्वर्यवान् प्रभु [तुम]
नः—हमको
पवस्व—पवित्र करो
शम्—कल्याण [करो]
गवे—[भोग्य पदार्थ देने वाले] गौ आदि पशुओं के लिये

---

१. तद् हृदयं विशेषेण चेतनास्थानम् । सुश्रुत शारीर० ४।३१।। आत्मा च सगुणश्चेतः चिन्त्यं च हृदि स्थितम् । चरक सूत्र० ३०।४।।

२. चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथी बलवद् दृढम् । गीता ६।३४।।

३. प्रकरण-प्राप्त पवमान इन्दु । इदि परमैश्वर्ये+उ ।

शम्—कल्याण [करो]
जनाय—जन-साधारण के लि
शम्—कल्याण [करो]
राजन्—हे प्रकाशस्वरूप
प्रभो !
ओषधीभ्य:—ओषधियों वनस्पतियों तथा भोग्य-पदार्थों के लिये ॥२६॥

भावार्थ—हे परम ऐश्वर्यवान् प्रभो ! आप हमें पवित्र करें। भोग्यपदार्थों के देनेवाले गौ आदि पशुओं के लिए, जन-साधारण के लिए, और अश्व आदि वाहनभूत पशुओं के लिए कल्याण करें। हे प्रकाशस्वरूप प्रभो ! ओषधियों=भोग्य-पदार्थों के लिए आप कल्याण करें। ये सब हमारे लिए सुखकारी होवें ॥२६॥

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥२७॥

२७. पदार्थ—

अभयम्—अभय देनेवाला
नः—हमारे लिये
करत्—करो
अन्तरिक्षम्—अन्तरिक्ष को
अभयम्—अभय [प्राप्त होवे]
पश्चात्—पीछे से=अदृश्य स्थान से
अभयम्—अभय प्राप्त होवे
पुरस्तात्—सामने से=प्रत्यक्ष स्थान से
उत्तरात्—अति ऊंचे स्थान से
अधरात्—नीचे=छिपे हुए हुए स्थान से
अभयम्—अभय
नः—हमको
अस्तु—प्राप्त होवे ॥२७॥

भावार्थ—हे प्रभो ! आप अपनी कृपा से अन्तरिक्ष, द्युलोक और पृथिवीलोक को हमारे लिए अभय देनेवाला करो, हमें इनसे किसी प्रकार का भय=अकल्याण प्राप्त न होवे। हमें अदृश्य स्थान से, प्रत्यक्ष स्थान से, उच्च एवं निम्न वा छिपे स्थानों से अर्थात् सर्वत्र अभय प्राप्त होवे, हम सर्वत्र सुखी रहें ॥२७॥

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात् ।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ।२८।

अथर्व कां० १९ । सू० १५ । मं० ५, ६॥

२८. पदार्थ—

अभयम्—अभय [प्राप्त होवे]
मित्रात्— मित्र से
अभयम्—अभय [प्राप्त होवे]
अमित्रात्—शत्रु से
अभयम्—अभय [प्राप्त होवे]
ज्ञातात्—जाने हुए पुरुष से
अभयम्—अभय [प्राप्त होवे]
[1]पराक्षात् —परोक्ष=न जाने हुए पुरुष से
अभयम्—अभय [प्राप्त होवें]
नक्तम्—रात्रि=अन्धकार में
अभयम्—अभय [प्राप्त होवे]
दिवा—दिन=प्रकाश में
नः—हमें
सर्वाः=सब
[2]आशाः—दिशायें
मम—मेरी=हमारी
मित्रम्—मित्र=दुःखहर्त्ता, सुखदाता
भवन्तु होवें ॥२८॥

भावार्थ—हे प्रभो ! आप की दया से मित्र शत्रु उदासीन, ज्ञात और अज्ञात सभी पुरुषों से हमें अभय प्राप्त होवे, ये हमारा अकल्याण न कर सकें । रात्रि=अन्धकार और दिन=प्रकाश में हमें अभय प्राप्त होवे । सभी दिशायें मेरी मित्र बन जायें, सब ओर से हमारा कल्याण होवे ॥२८॥

---

१. यह पाठ राथ ह्विटनी द्वारा सम्पादित अथर्व-संस्करण के अनुसार है, अन्यत्र पुरो यः पाठ मिलता है । इसका अर्थ है—'जो सामने है' । यह पाठ मन्त्र में संगत नहीं होता क्योंकि जो सामने है वह तो ज्ञात ही है, 'ज्ञात' का निर्देश पहले किया जा चुका है ।

२. आद्युदात्त 'आशा' शब्द दिशा का बोधक होता है । यह अन्तोदात्त प्रकरण में आशाया अदिगाख्या चेत् (फिट् सूत्र) से बोधित होता है ।

विशेष—राजनीति का सिद्धान्त है कि शत्रु माने हुए की अपेक्षा मित्र समझे हुए व्यक्ति से अधिक भय हो सकता है[1]। इसी प्रकार परोक्ष के प्रति तो पुरुष सावधान रहता है, परन्तु प्रत्यक्ष के प्रति प्रायः असावधान हो जाता है। इसलिए मन्त्र में अमित्र की अपेक्षा मित्र से, परोक्ष की अपेक्षा ज्ञात=प्रत्यक्ष से, प्रकाश की अपेक्षा अन्धकार से अभय की प्रथम प्रार्थना की गई है।

प्राचीन भारतीय राजनीति का वर्णन वेद, मनुस्मृति, नारदीय मनुस्मृति, महाभारत विशेष कर शान्तिपर्व, उद्योग पर्वान्तर्गत विदुर नीति[2], कणिकनीति, शुक्रनीतिसार, कौटिल्य अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों में विस्तार से मिलता है। इन ग्रन्थों का विना गहन अध्ययन किये भारतीय राजनीति के सिद्धान्तों का ज्ञान नहीं हो सकता ॥२८॥

इति शान्तिकरणम् ॥

---

१. इस सिद्धान्त की सत्यता का हमें मित्र समझे हुए चीन के आक्रमण के समय प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका है।

२. विदुरनीति का पदार्थ एवं विस्तृत व्याख्या सहित उत्तम संस्करण रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा अभी-अभी प्रकाशित हुआ है। प्रचारार्थ मूल्य ४-५० मात्र।

बृहद्यज्ञीय होम-मन्त्र

विधि--साप्ताहिक बृहद्यज्ञ की विधि का क्रम हम पूर्व पृष्ठ १०० पर लिख चुके हैं। तदनुसार स्वस्तिवाचन शान्तिकरण तथा यथाक्रम दैनिक यज्ञ अग्ने नय सुपथा० तक करके निम्न मन्त्रों से अधिक आहुतियां देनी चाहियें—

व्याहृत्याहुति-मन्त्र

ओं भूरग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदं न मम ॥१॥

ओं भुवर्वायवे स्वाहा ॥ इदं वायवे—इदं न मम ॥२॥

ओं स्वरादित्याय स्वाहा ॥ इदमादित्याय—इदं न मम ।३।

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा ॥ इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः—इदं न मम ॥४॥

पदार्थ—

भूः—पृथिवी-स्थानीय
अग्नये—अग्नि के लिए
स्वाहा—यह आहुति देता हूं ॥१॥
भुवः—अन्तरिक्ष-स्थानीय
वायवे—वायु के लिये
स्वाहा—यह आहुति देता हूं ॥२॥
स्वः—द्युस्थानीय
आदित्याय—आदित्य के लिए
स्वाहा—यह आहुति देता हूं।

भूः भुवः स्वः—पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युस्थानीय अग्निवाय्वादित्येभ्यः—अग्नि वायु, आदित्य के लिए स्वाहा—यह आहुति देता हूं ॥४॥

भावार्थ—मैं यह आहुति क्रमशः पृथिवी-स्थानीय अग्नि के लिए, अन्तरिक्ष-स्थानीय वायु के लिये, द्यु-स्थानीय सूर्य के लिए पृथक् पृथक्, एवं तीनों स्थानों के अग्नि वायु आदित्य देवों के लिए सम्मिलित रूप से देता हूं ॥१-४॥

विशेष—इन आहुतियों को देते हुए यजमान को पूर्व पृष्ठ ६१ पर लिखित भावार्थ के पश्चात् लिखी भावना अपने मन में करनी चाहिए।

द्वादश आज्याहुति-मन्त्र

ओं भूर्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनां स्वाहा॥ इदमग्नये पवमानाय—इदं न मम॥१

१. पदार्थ—

भूः—प्राणों के समान प्रिय
भुवः—दुःखों को दूर करने वाले
स्वः—सुख-प्रापक
अग्ने—प्रकाशस्वरूप प्रभो! आप
आयूंषि—जीवन को
पवसे—पवित्र करते हो,
आसुव—भली भांति प्रेरित करो, उत्पन्न करो
ऊर्जम्—बल को
इषम्—अन्नादि भोग्य पदार्थों को
च—और
नः—हमारे लिए
आरे—दूर
बाधस्व—हटावें, दूर करें
[1]दुच्छुनाम्—बुरी तरह से बढ़नेवाले कुविचारों को
स्वाहा—इसी के लिए मैं यह आहुति देता हूं ॥१॥

---

१. दुः+शु गतौ+न+टाप्, पृसोदरादित्वात् रूपसिद्धिः।

भावार्थ—हे प्राणों के समान प्रिय, दुखों को दूर करनेवाले, सुखप्रापक, प्रकाशस्वरूप प्रभो ! आप कृपा करके हमारे जीवनों को पवित्र करें, हमें बल पराक्रम और अन्नादि भोग्य पदार्थ प्राप्त करावें और हमारी दुर्भावनाओं को दूर करें। इसी भावना से मैं यह आहुति देता हूं ॥१॥

ओं भूर्भुवः स्वः। अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः। तमीमहे महागयं स्वाहा ॥ इदमग्नये पवमानाय—इदं न मम ॥२॥

२. पदार्थ—

भूः भुवः स्वः—पूर्ववत्

अग्निः—सब का प्रकाशक

[1]ऋषिः—ज्ञान देनेवाला

पवमानः—पवित्र करनेवाला

[2]पाञ्चजन्यः—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र और म्लेच्छ पांचों के लिए हितकारी

पुरोहितः—सृष्टि के पहले से वर्तमान हैं

तम्—इस प्रकार के आपको

ईमहे—हम प्राप्त होते हैं

महागयम्—महती स्तुतिवाले को

स्वाहा—उक्त भावनापूर्वक यह आहुति देता हूं।२।

भावार्थ—हे सबके प्रकाशक, ज्ञानन्दाता, पवित्रकर्त्ता प्रभो! आप सृष्टि की रचना से पूर्व से वर्तमान हो। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और म्लेच्छ (=अतिशूद्रों) अर्थात् मनुष्यमात्र के हितकारी हो। हम महती स्तुति योग्य आप की शरण में प्राप्त होते हैं, आप हमारी रक्षा करो। इसी भावना से मैं यह आहुति दे रहा हूं ॥२॥

---

१. ऋषि गतौ+इः। गतेस्त्रयोऽर्थाः—ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च।

२. पञ्चजन=चारों वर्ण (=आर्य) और म्लेच्छ। बहिर्देवपञ्चजनेभ्यश्चेति वक्तव्यम् (अ० ४।३।५८ वा०) से भावार्थ में विहित 'ञ्य' प्रत्यय छान्दसत्वात् हित अर्थ में भी जानना चाहिये।

ओं भूर्भुवः स्वः। अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम्।
दधद्रयिं मयि पोषं स्वाहा॥ इदमग्नये पवमानाय—इदं न मम॥३॥

ऋ० मं० ९। सू० ६६। मं० १९-२१॥

३. पदार्थ—

भूः भुवः स्वः—पूर्ववत्
अग्ने—हे प्रकाशस्वरूप प्रभो!
पवस्व—पवित्र करो
[1]स्वपा=उत्तम आचरणों वाली प्रजाओं को
अस्मे—हमारे लिए
वर्चः—तेज को
सुवीर्यम्—पराक्रम को
दधत्—धारण कराओ
रयिम्—विविध ऐश्वर्य को
[2]मयि—हम लोगों में
पोषम्—पुष्टि को
स्वाहा—इसके लिए यह आहुति देता हूं॥३॥

भावार्थ—हे प्रकाशस्वरूप प्रभो! आप हमारी उत्तम आचरणों वाली प्रजाओं को पवित्र करो। हम लोगों में तेज पराक्रम विविध प्रकार के ऐश्वर्य और पुष्टि को धारण कराओ अर्थात् आप की कृपा से हमें पवित्रता तथा तेज आदि प्राप्त होवें। इसके लिये मैं यह आहुति देता हूं॥३॥

ओं भूर्भुवः स्वः। प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणां स्वाहा॥ इदं प्रजापतये—इदं न मम॥४॥

ऋ० मं० १०। सू० १२१। मं० १०॥

४. पदार्थ—

भूः भुवः स्वः—पूर्ववत्
प्रजापते—हे प्रजाओं के स्वामिन्!
न—नहीं

१. अपः कर्मनाम। निघण्टु १।२॥ २. अस्मद्वाच्य, जाति में एकवचन।
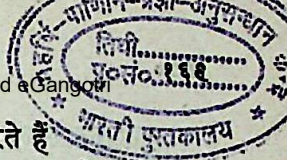
त्वत्—आप से भिन्न
एतानि—इनको
अन्यः—कोई
विश्वा—सम्पूर्ण
जातानि—उत्पन्न हुओं को
परि—सब ओर से
ता—उनको
[1]बभूव—रचना करता है
यत्-कामाः—जिस जिस कामनावाले हम लोग
ते—आपके लिए
जुहुमः—आत्म-समर्पण करते हैं
तत्—वे सब मनोरथ
नः—हमारे
अस्तु—पूर्ण होवें
वयम्—हम
स्याम—होवें
पतयः—स्वामी
रयीणाम्—ऐश्वर्यों के
स्वाहा—इस कामना से हम यह आहुति देते हुए आत्मसमर्पण कर रहे हैं ॥४॥

भावार्थ—हे सकल जगत् के स्वामिन् ! आप से भिन्न कोई भी इन लोक-लोकान्तरों को रचने में समर्थ नहीं है, आपने ही इस ब्रह्माण्ड को रचा है। हे सब कामनों को पूर्ण करनेहारे प्रभो ! हम जिस जिस कामनावाले पूर्ण पुरुषार्थ के अनन्तर आपको आत्म-समर्पण करते हैं, हमारी वे सब कामनाएं आपके कृपाकटाक्ष से पूर्ण होवें। हम सब प्रकार के ऐश्वर्यों के स्वामी होवें। इसी कामना को लेकर हम इस आहुति को देते हुए आत्मसमर्पण करते हैं ॥४॥

विशेष—वैदिक-संस्कृति में धन सम्पत्ति ऐश्वर्य के त्याग का विधान नहीं है। वेद में सर्वत्र विविध लौकिक भोग्य पदार्थों की प्राप्ति का उपदेश मिलता है, परन्तु उसमें विशेषता है त्याग भावना से भोग करने की, दीन-दुःखियों अभाव-पीड़ितों को बांटकर भोग करने की। इसी लिए वेद में कहा है—शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर (अथर्व ३।२४।५), अर्थात् सौ हाथों

१. अन्तर्भावितण्यर्थ—बभूव=भावयाञ्चकार।

वाला हो कर ऐश्वर्य को एकत्रित कर और हजार हाथोंवाला होकर=हृदय खोल कर उसे अभाव पीड़ितों में बांट। दूसरी विशेषता है ज्ञानपूर्वक ऐश्वर्यों तथा आवश्यकताओं को कम करने की, यही अपरिग्रह कहाता है।

ओं त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेळोऽवं यासिसीष्ठाः। यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषांसि प्र मुमुग्ध्यस्मत् स्वाहा॥ इदमग्नीवरुणाभ्याम्---इदं न मम॥५॥

५. पदार्थ—

त्वम्—आप
नः—हमारे
अग्ने—हे प्रकाशस्वरूप प्रभो!
वरुणस्य—उत्तम पुरुषों के
विद्वान्—जानने वाले हो
देवस्य—दिव्य गुण वालों के
हेडः—क्रोध=अप्रसन्नता को
अवयासिसीष्ठाः—दूर करो
यजिष्ठः—[मैं] शुभ कर्म करने वालों में श्रेष्ठ
वह्नितमः—[कार्य भार को] वहन करने में समर्थ
शोशुचानः—अत्यन्त तेजस्वी [होऊं]
विश्वा—संपूर्ण
द्वेषांसि—द्वेषों=दुःख देने-वाले दुर्गुणों को
प्र—भलीभांति
मुमुग्धि—मुक्त कर, परे हटा
अस्मत्—हम से,
स्वाहा—इसी भावना से मैं यह आहुति देता हूं॥५॥

भावार्थ—हे प्रकाशस्वरूप प्रभो! आप हमारे दिव्यगुणों वाले उत्तम पुरुषों की अप्रसन्नता को, जिससे ये श्रेष्ठ पुरुष अप्रसन्न होते हैं, जानते हो। इसलिए हे प्रभो! आप उनकी अप्रसन्नता को दूर करो, और उस अप्रसन्नता के कारणभूत हमारे दुर्गुणों को भी हमसे दूर करो, इसी भावना से मैं यह आहुति देता हूं॥५॥

ओं स त्वं नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिंष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ।
अवं यक्ष्व नो वरुंणं ररांणो वीहि मृळीकं सुहवो न एधि स्वाहा ॥
इदमग्नीवरुणाभ्याम्—इदं न मम ॥६॥

ऋ० मं० ४। सू० १। मं० ४, ५ ॥

६. पदार्थ—

सः—वह
त्वम्—आप
नः—हमारे
अग्ने—हे प्रकाशस्वरूप प्रभो !
अवमः—रक्षक
भव—होवो
ऊती—रक्षा के द्वारा
नेदिष्ठः—समीपवर्ती [होवो]
अस्याः—इस
उषसः—उषः काल के
व्युष्टौ—प्रकाश में
अवयक्ष्व—दूर करो=नष्ट करो
नः—हमारे
[1]वरुणम्—सब ओर से घेरनेवाले दुःखों को
[2]रराणः—बुलाये हुए, प्रार्थना किये गये
वीहि—प्राप्त कराओ
[3]मृडीकम्—सुख को
सुहवः—सुगमता के पुकारे जानेवाले
नः—हमारे लिये
एधि—होवो
स्वाहा—इस भावना से मैं यह आहुति देता हूं ॥६॥

भावार्थ—हे प्रकाशस्वरूप प्रभो ! आप हमारे रक्षक होवो। इस प्रार्थना-योग्य उषःकाल में आप अपनी रक्षा से अर्थात् रक्षा के

---

१. वृञ् आवरणे+उनन् । ढकने वाला—घेरने वाला
२. रण शब्दार्थः+कानच् ।
३. मृड सुखने+ईकच् ।

लिए हमारे समीपवर्ती होओ। हे प्रभो! आप हमारे सब ओर से घेरनेवाले दुःखों को दूर करो। हमारे द्वारा आह्वान=प्रार्थना किये हुए हमें सुख देवो—सुखी करो और हमारे लिए सुगमता से पुकारे जाने वाले अर्थात् कृपालु होवो। इसी भावना से मैं यह आहुति देता हूं।

विशेष—(१) उषःकाल का शान्त वातावरण ही ईश्वर की स्तुति प्रार्थना उपासना का श्रेष्ठतम काल है।

(२) किसी भी व्यक्ति को निःसंकोच सहायता के लिए तभी बुलाया जा सकता है, जब वह दयालु होवे। प्रभु अत्यन्त कृपालु हैं, अतः वह सुहव हैं। दूसरा व्यक्ति सुहव तभी हो सकता है जब हम उसकी दया के पात्र होवें। अतः हमें प्रभु की दया के पात्र बनने के लिये शुद्ध आचरण वाले बनना चाहिये।६।

ओम् इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृळय।
त्वामवस्युरा चके स्वाहा॥ इदं वरुणाय—इदन्न मम॥७॥

ऋ० मं० १। सू० २५। मं० १९॥

७. पदार्थ—

इमम्—इसको
मे—मेरी
वरुण—हे सबको आच्छादित करने वाले=सर्वव्यापक प्रभो!
श्रुधि—सुनो
हवम्—पुकार को
अद्य—इसी समय—पुकार करते ही
च—और
मृडय—सुखी करो=दुःखों को दूर करो,
त्वाम्—आप को
अवस्युः—रक्षा=कृपा चाहनेवाला मैं
आ—भली भांति
चके—प्रसन्न करता हूं [शुभ आचरणों से]
स्वाहा—इस भावना से मैं यह आहुति देता हूं॥७॥

भावार्थ—हे सर्वव्यापक प्रभो ! आप मुझ भवबन्धनों से पीड़ित की पुकार को सुनो, तत्काल मुझे सुखी करो, मेरे दुःखों को दूर करो। दुःखों से रक्षा चाहनेवाला मैं आपको अपने उत्तम आचरणों के द्वारा प्रसन्न करता हूं, अर्थात् मैं शुभ कर्मों में प्रवृत्त हूं। मैं सदा शुभ कर्मों में प्रवृत्त रहूं, इसी भावना से मैं यह आहुति देता हूं।७।

ओं तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः। अहेळमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्र मोषीः स्वाहा॥ इदं वरुणाय—इदं न मम॥८॥

ऋ० मं० १। सू० २४। मं० ११॥

८. पदार्थ—

तत्—उस
त्वा—आपको
यामि—प्राप्त होता हूं
[1]ब्रह्मणा—यज्ञ=शुभ कर्म से, सत्य वाणी से
वन्दमानः—स्तुति करता हुआ
तत्—उसकी
आशास्ते—आशा=कामना करता हूं
यजमानः—श्रेष्ठ कर्म करनेवाला मैं
हविर्भिः—शुभ कर्मरूपी हवियों से
अहेडमानः—निरादर—अनसुनी न करते हुए
वरुण—हे सर्वव्यापक प्रभो!
इह—इस शुभ कर्मरूपी यज्ञ में
बोधि—ज्ञान प्राप्त कराओ [जिस प्रकार श्रेष्ठ कर्म किये जा सकें]
उरुशंस—अति स्तुतियों के योग्य प्रभो !
मा—मत
नः—हमारे
आयुः—जीवन को

१. ब्रह्म वै यज्ञः। ऐ० ब्रा० ७।२२॥ यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। शत० १।७।१।५॥ तस्यै वाचः सत्यमेव ब्रह्म। शत० २।१।४।१॥

प्रमोषीः—असमय में नष्ट करो
स्वाहा—इसी भावना से मैं यह आहुति देता हूं ॥८॥

भावार्थ—हे सर्वव्यापक प्रभो ! मैं शुभ कर्मों वा सत्य वाणी से स्तुति करता हुआ आप को प्राप्त होता हूं, आपकी शरण में आता हूं। मैं शुभ कर्म करनेवाला आप से शुभ कर्मों के द्वारा कामना करता हूं कि आप मेरी प्रार्थना को अनसुनी न करें, और मेरे शुभाचरणरूपी यज्ञ में मुझे शुभ कर्म किस प्रकार करने चाहियें, इसका बोध करावें, जिससे मैं सरलता से शुभ मार्गगामी बना रहूं। हे बहुत स्तुतियों के योग्य प्रभो! आप मेरे जीवन को असमय में नष्ट न करें, जिससे मैं पूर्ण आयु प्राप्त करके शुभ कर्मों के आचरण द्वारा अपने जीवन को सफल बना सकूं। इसी भावना से मैं यह आहुति देता हूं ॥८॥

ओं ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितता महान्तः। तेभिर्नो अद्य सवितोत विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्काः स्वाहा ॥ इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्केभ्यः—इदं न मम ॥९॥

९. पदार्थ—

ये—जो
ते—आप के
शतम्—सैंकड़ों
वरुण—हे वरणीय प्रभो !
ये—जो
सहस्रम्—हजारों
यज्ञियाः—सृष्टि-सम्बन्धी
पाशाः—बन्धन—नियम
वितताः—विस्तृत=फैले हुए
महान्तः—महान्—दुर्धर्ष
तेभिः—उन पाशों=नियमों की सहायता से
नः—हमको
अद्य—आज

सविता—शुभ कर्मों में प्रेरक विद्वान्
उत—और
विष्णुः—कर्मों में व्यापृत=शिल्पी जन
विश्वे—सब
मुञ्चन्तु—[भव-बन्धन से] मुक्त करें
[1]मरुतः—'मत रोवो' ऐसा आश्वासन देनेवाले मित्र जन
[2]स्वर्क्काः—उत्तम तेजस्वी पराक्रमी
स्वाहा—इसी भावना से मैं यह आहुति देता हूं ।९।

भावार्थ—हे वरणीय श्रेष्ठतम प्रभो! आपके इस संसार में जो सैंकड़ों सहस्रों सृष्टि-नियम काम कर रहे हैं, उन नियमों की सहायता से, उनका ज्ञान कराकर शुभ कर्मों में प्रेरक विद्वान्, कर्मों में व्यापृत शिल्पी जन एवं 'मत रोवो' ऐसा ढाढस बन्धानेवाले तेजस्वी पराक्रमी मित्र जन मुझे इस भवबन्धन से मुक्त करें।

विशेष—वैदिक-सिद्धान्त है कि मनुष्य प्रभु के सृष्टि-सम्बन्धी जो नियम हैं, उनको जानकर ही इस भवबन्धन से मुक्त हो सकता है। आधिदैविक व्याख्यानुसार तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय (यजुः ३१।१८) उस विराट् पुरुष=ब्रह्माण्ड के नियमों को विना जाने कोई व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि जो सृष्टि-नियमों=प्राकृतिक-नियमों का उल्लङ्घन करते हैं, वे संसार में दुःखी होते हैं, और उन नियमों को जानकर उन पदार्थों का जो यथायोग्य प्रयोग करते हैं, वे सुखी होते हैं। सृष्टिगत नियमों का ज्ञान विद्वानों शिल्पीजनों और ऐसे तेजस्वी पुरुषों से प्राप्त करना चाहिए, जो मनुष्य को सुखी जीवन व्यतीत कराने का आश्वासन दे सकें ॥९॥

---

१. द्रष्टव्य पूर्व पृष्ठ १२१ टि० २।
२. सु+अर्क तपने+अच्।

ओ३म् अयाश्चाग्नेऽस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्त्वमयाऽअसि[1] । अया नो यज्ञं वहास्यया नो धेहि भेषजꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये अयसे—इदं न मम ॥१०॥ कात्या० १५।१।११॥

१०. पदार्थ—

अयाः[2]—सर्वत्र व्यापक
च—और
अग्ने—हे प्रकाशस्वरूप प्रभो!
असि—हो
अनभिशस्तिपाः—दुर्दमनीय काम क्रोध आदि शत्रुओं से रक्षा करनेवाला
च—और
सत्यम्—यथार्थरूप में
इत्—ही
त्वम्—आप
अयाः—सर्वत्र व्यापक
असि—हो
अयाः—सर्वत्र व्यापक [होने से]
नः—हमारे
यज्ञम्—शुभ कर्मों को
वहासि—वहन करते हो, पूर्ण करते हो
अयाः—सर्वत्र व्यापक [होने से]
नः—हमारे लिए
धेहि—दो
भेषजम्—काम क्रोध आदि निवारक शक्ति को
स्वाहा—इसी कामना से मैं आहुति देता हूं ।१०॥

भावार्थ—हे प्रकाशस्वरूप प्रभो ! आप सर्वत्र व्यापक हो । हे काम क्रोध आदि दुर्दमनीय अध्यात्म शत्रुओं से रक्षा करनेवाले प्रभो ! यथार्थरूप में आप सर्वत्र व्यापक हो । सर्वव्यापक सर्वगत होने से ही आप हमारे शुभ कर्मों को वहन करते हो—पूर्ण करते हो—उन्हें

१. 'संस्कारविधि' में सत्यमित्त्वमयासि ऐसा पाठ छप रहा है, वह अशुद्ध है ।

२. अय गतौ+असुन् । योऽयति सर्वत्र व्याप्तः प्राप्तो वा भवति स अयः ।

पूर्ण करने की शक्ति प्रदान करते हो। सर्वव्यापक होने के कारण ही हम आप से प्रार्थना करते हैं कि आप हमारे काम क्रोध आदि को निवारण करनेवाली आत्मिक-मानसिक शक्ति हमें प्रदान करो। इसी भावना से मैं यह आहुति देता हूं ॥१०॥

ओम् उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय। अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम स्वाहा ॥ इदं वरुणायाऽऽदित्यायाऽदितये च—इदं न मम ।११। ऋक् १।२४।१५॥

११. पदार्थ—

उत्—ऊपर उठा=दूर कर
उत्तमम्—उत्तम=अति दृढ़ को
वरुण—हे वरणीय प्रभो!
पाशम्—बन्धन को
अस्मत्—हमसे
अव—गति दो=परे हटाओ
अधमम्—निम्न=साधारण बन्धन को
वि—विशेषरूप से
मध्यमम्—मध्य कोटि के बन्धन को
श्रथाय—शिथिल करो
अथ—[पाशों से छूटने के] अनन्तर
वयम्—हम
आदित्य—हे अविनाशी प्रभो!
व्रते—नियमों में [चलते हुए]
तव—आपके
अनागसः—पाप कर्मों से रहित हुए
अदितये—नाशरहित मोक्ष के लिए
स्याम—समर्थ होवें,
स्वाहा—इसी भावना से यह आहुति देता हूं ॥११॥

भावार्थ—हे वरणीय प्रभो! आप हमारे उत्तम मध्यम और साधारण कोटि के जो भवबन्धन हैं, उन्हें अपनी कृपा से शिथिल करो, उनसे हमें मुक्त करो। हे अविनाशीस्वरूप प्रभो! बन्धनों

से मुक्त होकर हम आप के नियमों में चलते हुए पाप-कर्मों से रहित होकर—शुद्ध होकर नित्य अविनाशी मोक्ष के लिए समर्थ होवें, मोक्ष के अधिकारी बनें।

विशेष—मनुष्यों का सबसे दृढ़ बन्धन, जिससे प्राणी सदा दुःख पाता है, और जो अन्य बन्धनों का कारण है, वह है अविद्या। योगदर्शन के 'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां सुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्' सूत्र में अविद्या को ही सब क्लेशों का मूल कारण कहा है। मध्यम बन्धन हैं—अविद्या से उत्पन्न रागद्वेष, जिन से बन्धा हुआ प्राणी शुभाशुभ कर्म में प्रवृत्त होता है। अधम बन्धन है—रागद्वेष से उत्पन्न अस्मिता=मैं सदा जीता रहूँ, ऐसा न हो कि मैं मर जाऊं। इन तीनों बन्धनों से छुटकारा पाना ही मानव का अन्तिम ध्येय है। इन बन्धनों से मुक्त होने का साधन है—प्रभु के सत्य नियमों का अनुसरण। उसी से ही मनुष्य पापरहित=शुद्ध होकर मोक्ष का अधिकारी बनता है ॥११॥

ओं भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ। मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः स्वाहा॥ इदं जातवेदोभ्याम्—इदं न मम ॥१२॥ यजुः अ० ५। मं० ३॥

१२. पदार्थ—

भवतम्—होवें
नः—हमारे [साथ]
समनसौ—समान मनवाले
सचेतसौ—समान ज्ञानवाले
अरेपसौ—पापवृत्ति से रहित =शुद्ध
मा—न
यज्ञम्—शुभकर्मरूपी यज्ञ को
हिंसिष्टम्=नष्ट करें
मा—न [नष्ट करें]
यज्ञपतिम्—शुभ कर्मों के करनेवाले को
[1]जातवेदसौ—उत्पन्न हो गया है ज्ञान-विज्ञान जिनको, ऐसे विद्वान्

---

१. जात+विद ज्ञाने+असुन्। जातमुत्पन्नं वेदो ज्ञानं ययोस्तौ।

शिवौ—सुखकारी
भवतम्—होवें
अद्य—आज=सदा
नः—हमारे लिये,
स्वाहा—इसी भावना से यह आहुति देता हूं ॥१२॥

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से ज्ञानी वानप्रस्थी और संन्यासी हमारे लिये समान मनवाले (=सहृदय), समान ज्ञानवाले, पापवृत्ति-रहित शुद्ध होवें। वे उपेक्षा करके हमारे शुभकर्मों वा शुभ कर्म करनेवाले मुझ को नष्ट करनेवाले न होवें, अर्थात् वे मुझे सदा मार्ग-प्रदर्शन करते रहें। वे अपने सदुपदेशों से हमारे लिए सदा सुख-कारी होवें। इसी भावना से मैं यह आहुति देता हूं।

विशेष—याज्ञिक अर्थ में यज्ञ के प्रधान कार्यकर्त्ता ब्रह्मा और अध्वर्यु दोनों का ग्रहण जानना चाहिए। इनके यथोचित साहाय्य के विना कोई यज्ञकर्म सफल नहीं होता ॥१२॥

तीन आहुतियां

पूर्वोक्त मन्त्रों से १२ आहुतियां देकर निम्न गायत्री मन्त्र से तीन आहुतियां देवें—

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥यजु० अ० ३६। मन्त्र ३॥

इस मन्त्र का अर्थ पूर्व (पृष्ठ ५५-५६ पर) देखें।

गायत्रीमन्त्र से ३ आहुति देकर निम्न मन्त्र से एक स्विष्टकृद् आहुति[1] देवें—

---

१. स्विष्टकृद् आहुति सदा उसी हव्य द्रव्य से दी जाती है, जिससे किसी भी यज्ञ की प्रधान आहुतियां दी जाती हैं। चाहे वह घृत हो, चाहे पुरोडाश आदि अन्य द्रव्य। इसलिए यज्ञों में यथाशास्त्र स्विष्टकृद् आहुति का द्रव्य पृथक्-पृथक् होता है। संस्कारविधि में 'घृत की अथवा भात की देनी चाहिए' निर्देश का भी यही अभिप्राय जानना चाहिये। भात को पाक द्रव्य का उप-लक्षण जानना चाहिए।

स्विष्टकृद्-आहुति-मन्त्र

ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् । अग्निष्टत् स्विष्टकृद्विद्यात् सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे । अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्धय स्वाहा ॥ इदमग्नये स्विष्टकृते—इदं न मम ॥

पदार्थ—

यत्—जो
अस्य—इस
कर्मणः—कर्म का (में)
अति अरीरिचम्—[अज्ञान से] अधिक किया है ।
यद्वा—अथवा
न्यूनम्—न्यून
इह—इस [यज्ञ] में
अकरम्—किया है
अग्निः—सर्वज्ञ प्रभु
तत्—उसे
स्विष्टकृत्—उचित रूप से किया हुआ
[1]विद्यात्—जाने अर्थात् माने, और
सर्वम्—सब को
स्विष्टम्—यथोचित यजन किया हुआ
सुहुतम्—यथोचित आहुति दिया हुआ
करोतु—बनावे
मे—मेरे [यज्ञ को]
अग्नये—सर्वज्ञ प्रभु के लिए
स्विष्टकृते—[सब यज्ञकर्मों को] पूर्ण करनेवाले के लिये
सुहुतहुते—अच्छे प्रकार यजन किए हुए के लिए
सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनाम्—सब

---

१. यहां प्रायः करके 'विद्वान्' पाठ मिलता है । तदनुसार अर्थ होगा—'जानने वाले' ।

प्रायश्चित्त आहुतियां दी जाती हैं जिसके लिए, उन	सर्वान्—सब
	नः—हमारी
	कामान्—कामनाओं को
कामानाम्—कामनाओं के	समर्द्धय—पूर्ण करो
समर्द्धयित्रे—पूर्ण करनेवाले के लिये	स्वाहा—इसी भावना से यह प्रायश्चित्ताहुति देता हूं ।।

भावार्थ—हे प्रभो ! आपकी आज्ञा के अनुसार किये जानेवाले इस यज्ञ में मैंने अपने अज्ञान से जो अप्रासङ्गिक कर्म अधिक किया है, अथवा न्यून किया है=छोड़ दिया है, उस अधिकता वा न्यूनता को सर्वज्ञ=आप भलीभाँति जानते हैं। इस लिये मेरी अल्पज्ञता को ध्यान में रखते हुए उसे ही यथोचित रूप से किया हुआ कर्म मानें और उसे पूर्ण बनावें। इसीलिये मैं सर्वज्ञ, सब कर्मों को पूर्ण करने-वाले, यथाशक्ति अच्छे प्रकार यजन किये हुए, और प्रायश्चित्त आहुति द्वारा सर्व कामनाओं को पूर्ण करनेवाले आप के लिए ही यह आहुति देता हूं। हे प्रभो! आप हमारी सब कामनाओं को पूर्ण करें ।।

विशेष—मनुष्य अल्पज्ञ है, उससे प्रत्येक कर्म में भूल हो सकती है, अत: यदि भूल होने पर वह अपनी अल्पज्ञता को ध्यान में रखता हुआ सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाले प्रभु के प्रति ऋजुभाव से आत्म-समर्पण करता है, तो प्रभु मानव की अल्पज्ञता को ध्यान में रखकर अपने कृपालु स्वभाव से उसके न्यूनाधिक किये कर्म को भी सफल बनाते हैं।

स्विष्टकृत् आहुति के पश्चात् प्रधानतया यज्ञकर्म के देव प्रजा-पति के लिए निम्न मन्त्र से एक मौन आहुति देवें—

प्राजापत्याहुति-मन्त्र

ओं प्रजापतये स्वाहा ।। इदं प्रजापतये—इदं न मम ।।

पदार्थ—

प्रजापतये—सकल ब्राह्मण्ड के रचयिता प्रभु के लिए

स्वाहा—मैं यह आहुति देता हूं। अपना यह यज्ञ उसे ही समर्पित करता हूं ।।

भावार्थ—यज्ञ का प्रधान उद्देश्य आत्म-शुद्धि है। अतः यज्ञकर्म के अन्त में आत्मशुद्धि की भावना से किये गये कर्म को उसी के लिये समर्पण कर देना चाहिए।

जैसे सन्ध्या के अन्त में अहंकार आदि मानव-सुलभ दोषों की निवृत्ति के लिए सन्ध्या-कर्म को प्रभु के लिए समर्पित किया जाता है (द्र० पृष्ठ ५७-५८), उसी प्रकार प्रकृत यज्ञकर्म भी उसे ही समर्पित करना चाहिए। समर्पण से मनुष्य के अहंकार की निवृत्ति होती है।

इसके पश्चात् पूर्व पृष्ठ ६४ में लिखे पूर्णाहुति-मन्त्र से तीन आहुति देवें।

पूर्णाहुति-मन्त्र

ओं सर्वं वै पूर्णं स्वाहा[1] ।।

इस मन्त्र से तीन पूर्णाहुतियां देकर यज्ञ समाप्त करना चाहिए।

इति बृहद्यज्ञ-विधि समाप्त ।।

---

१. मन्त्रार्थ पृष्ठ ६४ पर देखें।

दर्श-पूर्णमास-इष्टि-विधि

यद्यपि दर्श=अमावास्या और पूर्णमास=पूर्णिमा को किये जाने वाले विशेष यज्ञों का सम्बन्ध नैत्यिक कर्मों के साथ नहीं है, पुनरपि उनकी विधि भी यहां इसलिए लिखते हैं कि आर्य परिवारों में उनका प्रचार हो, और इस बहाने अमावास्या और पूर्णिमा रूप महत्त्वपूर्ण तिथियों की स्मृति बनी रहे।

प्राचीन काल में सार्वजनिक अवकाश प्रतिमास अष्टमी, अमावास्या, पूर्णिमा और प्रतिपदा को रखने की परिपाटी थी। इसलिए इन दिनों में विशिष्ट यज्ञ-कर्म किये जाते थे। श्रौत दर्श-पौर्णमास यज्ञ दो दिन-साध्य होते हैं, परन्तु गृह्यसूत्रोक्त दर्श-पौर्णमास यज्ञ उसी दिन सम्पन्न हो जाते हैं, जिस दिन दर्श=अमावास्या या पूर्णिमा होती है। ऋषि दयानन्द ने इन दोनों इष्टियों का विधान 'संस्कार-विधि' में किया है। हम उसी के आधार पर निर्देश करते हैं।

विधि—आजकल अमावास्या और पूर्णिमा को अवकाश न रहने के कारण प्रतिदिन किये जाने वाले अग्निहोत्र के अन्त में अर्थात् अग्ने नय सुपथा० मन्त्र से दी जाने वाली आहुति के पश्चात् निम्न मन्त्रों से विशिष्ट आहुतियां देनी चाहियें—

दर्श (अमावास्या) इष्टि

अमावास्या के दिन निम्न मन्त्रों से आहुतियाँ देवें—

ओम् अग्नये स्वाहा॥ इदमग्नये—इदं न मम॥१॥

ओम् इन्द्राग्नीभ्यां स्वाहा॥ इदमिन्द्राग्नीभ्याम्—इदं न मम॥२॥

ओं विष्णवे स्वाहा ॥ इदं विष्णवे–इदं न मम ॥३॥

पदार्थ—

अग्नये—अग्नि के लिये
स्वाहा—यह आहुति देता हूं ॥१॥
इन्द्राग्नीभ्याम्—इन्द्र (विद्युत्) और अग्नि के लिये
स्वाहा—यह आहुति देता हूं ॥२॥
विष्णवे—विष्णु के लिये
स्वाहा—यह आहुति देता हूं ॥३॥

भावार्थ—अमावास्या से सम्बद्ध अग्नि-इन्द्राग्नि और विष्णु देवता के लिए यह आहुतियां देता हूं ॥१-३॥

विशेष—कृष्णपक्ष की रात्रियों के आरम्भ में सोम=चन्द्र का सम्बन्ध नहीं होता, और अमावास्या की रात्रि में चन्द्र का सम्बन्ध किञ्चिन्मात्र नहीं रहता। अतः उस रात्रि के प्रधान देव अग्नि और इन्द्र=विद्युत् ही हैं, और दिन का देव विष्णु=अपने प्रकाश से सर्वत्र व्याप्त सूर्य है। अतः अमावास्या के दिन अहोरात्र के तीन देवों के लिये प्रधानरूप से आहुति देने का विधान है। पक्षान्तर में ये ही देववाचक शब्द तेज ऐश्वर्य और व्याप्ति के परम-निधान प्रभु के वाचक हैं॥

पूर्णमास (पूर्णिमा) इष्टि

पूर्णिमा के दिन निम्न मन्त्रों से विशेष आहुतियां देनी चाहियें—

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदं न मम ॥१॥

ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥ इदमग्नीषोमाभ्याम्—इदं न मम ॥२॥

ओं विष्णवे स्वाहा ॥ इदं विष्णवे—इदं न मम ॥३॥

[1]भावार्थ—पूर्णिमा से सम्बद्ध अग्नि-अग्नीषोम और विष्णु देवता के लिये ये आहुतियां देता हूं ॥१-३॥

विशेष—पूर्णिमा की रात्रि में सोम=चन्द्र का सम्बन्ध रहता है, अतः अग्नि के समान वह भी उस रात्रि का देव है। विष्णु=आदित्य दिन का प्रकाशक है।

इस प्रकार दोनों दिनों (अहोरात्र) में अग्नि और विष्णु तो समान रूप से प्रकाशक हैं। अमावास्या की रात्रि में सोम के स्थान पर विद्युत् प्रकाशक होता है और पूर्णिमा के दिन सोम।

टिप्पणी—प्राचीन पद्धति के अनुसार दोनों पक्षों की प्रथम दो आहुतियां पाक द्रव्य (पुरोडाश आदि) की होती हैं, और विष्णु देवताक घृत की। उनमें यह भी भेद है कि विष्णु देवता वाली घृताहुति पूर्वोक्त दोनों (अग्नि-इन्द्राग्नी तथा अग्नि-अग्नीषोम) आहुतियों के मध्य में दी जाती है।

पूर्णमासेष्टि में कुछ शाखाओं में मध्य की घृत की आहुति अग्नीषोम देवता वाली कही है, और कहीं विष्णु देवता वाली। ऋषि दयानन्द ने शाखान्तर-प्रतिपादित विष्णु देवता वाली आहुति का निर्देश किया है। इससे इष्टियों में दो दो आहुतियों में समानता भी उपपन्न हो जाती है॥

इति दर्शपूर्णमासेष्टि-विधि॥

---

१. केवल एक मन्त्र का ही अन्तर होने से ही यहां पदार्थ नहीं दिया गया है।

पितृयज्ञ-विधि

दैनिक कर्मों में तीसरा यज्ञ है—पितृयज्ञ। पितृयज्ञ में पितृ शब्द मूल=यौगिक अर्थ द्वारा 'रक्षक' का वाचक है। इसलिए पितृयज्ञ में जहां प्रपितामह (परदादा), प्रपितामही (परदादी), पितामह (दादा), पितामही (दादी) पिता, माता, बड़े भाई, भोजाई अन्य ज्येष्ठ सम्बन्धी-सगोत्र आदि का आदर-सत्कार, अन्न-पान, वस्त्रादि से उनकी सेवा-शुश्रूषा का विधान है, वहां उन विशिष्ट विद्वानों की सेवा-शुश्रूषा का भी विधान है, जिनसे गृहस्थों को धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की शिक्षा प्राप्त होती है। उन विशिष्ट विद्वानों का परिगणन प्राचीन परम्परा के अनुसार ऋषि दयानन्द ने 'पञ्चमहायज्ञविधि' और 'सत्यार्थ-प्रकाश' में इस प्रकार किया है—

सोमसद्, अग्निष्वात्त, बर्हिषद्, सोमपा, हविर्भुक्, आज्यपा, सुकालिन् और यमराज[1]।

इनके अतिरिक्त 'सत्यार्थ-प्रकाश' में ऋषि दयानन्द ने स्वपत्नीं तर्पयामि का निर्देश करके मनु के निम्न आदेश की पूर्ति का विधान किया है। मनु का कहना है—

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।

पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥३।५५।

अर्थात् माता-पिता के द्वारा पुत्री रूप, पति के द्वारा पत्नीरूप, देवरों के द्वारा भावजरूप नारियों का सत्कार किया जाना चाहिए॥

---

१. इन शब्दों का अर्थ इसी प्रकरण में आगे देखें।

पत्नी के लिए 'पति' पूज्य सत्करणीय है। ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ-प्रकाश समु० ११ में **पञ्चायतन-पूजा** का निर्देश करते हुए लिखा है—'पत्नी के लिए पति और पति के लिए पत्नी पांचवाँ पूज्य-देव है'।

सोमसद् आदि का अर्थ—ऊपर गिनाए गये सोमसद् आदि की व्याख्या ऋषि दयानन्द ने 'पञ्चमहायज्ञविधि' और 'सत्यार्थप्रकाश' दोनों में की है। हम यहां दोनों ग्रन्थों की व्याख्याओं को मिलाकर इनका अभिप्राय लिखते हैं—

सोमसद्—जो ईश्वर में स्थित, सोमयज्ञ करने वाले, सोम-पदार्थ की विद्या में निपुण और शान्ति आदि गुणों वाले हैं।

अग्निष्वात्त—जो ईश्वर, अग्नि और विद्युत् के गुणों को जानने वाले हैं।

बर्हिषद्—जो सब से उत्तम परमेश्वर और शम-दम तथा सत्य-विद्या के ज्ञानरूप उत्तम व्यवहारों में वर्तमान हैं।

सोमपा—जो ऐश्वर्य के रक्षक और सोम महौषधि के रस का पान करने से रोग-रहित तथा ओषधियों के द्वारा जनता के रोगों को हरने वाले हैं।

हविर्भुक्—जो यज्ञ करके यज्ञ से अवशिष्ट हवि को खानेवाले तथा हवि के योग्य अर्थात् मादक हिंसा आदि दोष रहित अन्न का भोजन करने करने वाले हैं।

आज्यपा—आज्य=घृत=जो स्निग्ध पदार्थ घृत तैल दुग्ध आदि का सेवन करनेवाले वा विविध ज्ञान-विज्ञान रूप सारभूत विद्या के अध्ययन-अध्यापन द्वारा रक्षा करने वाले हैं।

सुकालिन्—ईश्वर, धर्म और सत्य विद्या के उपदेश में जिनका समय व्यतीत होता है, अथवा जो काल का सदुपयोग करनेवाले एवं

समय को पहचान कर यथोचित कार्य करनेवाले हैं।

यमराज—जो पक्षपात छोड़कर दुष्टों को दण्ड देनेवाले और श्रेष्ठों का पालन करनेहारे न्यायाधीश हैं॥

इति पितृयज्ञ-विधि ॥

बलिवैश्वदेवयज्ञ-विधि

पाकशाला में जो अन्न सिद्ध किए गए हैं, उनमें से खट्टा, लवणान्न, वा दो दल वाले (जिनकी दाले बनती है) क्षार-प्रधान अन्नों को छोड़कर शेष अन्न से चूल्हे की अग्नि में निम्न १० मन्त्रों से आहुतियां देनी चाहियें—

ओम् अग्नये स्वाहा ॥१॥ ओं सोमाय स्वाहा ॥२॥
ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥३॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥४॥
ओम् धन्वन्तरये स्वाहा ॥५॥ ओं कुह्वै स्वाहा ॥६॥
ओम् अनुमत्यै स्वाहा ॥७॥ ओं प्रजापतये स्वाहा ॥८॥
ओं सह[1] द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा ॥९॥ ओं[2] स्विष्टकृते स्वाहा ॥१०

---

१. सं० विधि संस्क० २-३-४ में सह शब्द नहीं है। मनुस्मृति ३।८६ और उसकी व्याख्या के अनुसार भी सह मन्त्र का अवयव नहीं है। 'सह' शब्द के योग में तृतीया विभक्ति होती है, यहां द्यावापृथिवीभ्याम् चतुर्थ्यन्त है (अन्य मन्त्रों में सभी पद चतुर्थ्यन्त हैं)। अतः हमारा विचार है कि मन्त्र में सह पद का पाठ नहीं होना चाहिये। पञ्चमहायज्ञविधि, ऋ० भा० भूमिका और सत्यार्थप्रकाश में सह पद का पाठ मिलता है।

२. मनुस्मृति ३।८६ में यद्यपि 'स्विष्टकृते' इतना ही निर्देश है, परन्तु

मन्त्रार्थ—

१. प्रकाशस्वरूप परमेश्वर की प्रसन्नता और जठराग्नि को प्रदीप्त करने की भावना से मैं यह आहुति देता हूं ।।

२. सर्वजगदुत्पादक प्रभु की प्रसन्नता और शान्ति आदि गुणों की प्राप्ति की भावना से......।।

३. प्रकाशस्वरूप और शान्ति आदि गुणों के आगार प्रभु की प्रसन्नता और प्राण अपान की पुष्टि की भावना से......।।

४. ईश्वर की विविध शक्तियों को उद्देश्य करके और समस्त विद्वानों के लिये......।।

५. [1]दुर्गम दुःखप्रद भवसागर से पार लगानेवाले प्रभु और रोगों से छुटकारा दिलानेवाले चिकित्सकों की प्रसन्नता अथवा रोगनिवारक शक्ति की प्राप्ति के लिये......।।

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में स्विष्टकृत् पद 'अग्नि' के विशेषणरूप में प्रयुक्त हुआ है । अतः यहां मन्त्र का स्वरूप 'ओम् अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा' ऐसा होना चाहिये । मनु के व्याख्याकारों का भी यही मत है ।

१. धन्व गतौ सौत्रो धातुः+कनिन्=धन्वन् । जिसमें कठिनता से गति= गमन होवे, यथा मरु-प्रदेश । भवसागर में विचरते हुए प्राणियों को बहुत दुःख प्राप्त होते हैं, अतः वह भी धन्वन् है । धन्वन्+तॄ संतरणे+इः= धन्वन्तरिः । 'न्' का आगम या लोपाभाव रथन्तर शब्द के समान जानना चाहिये । रोग भी 'धन्वन्' हैं, उनसे पार करनेवाला वैद्य भी 'धन्वन्तरि' कहाता है । रोग-निवारक शक्ति भी 'धन्वन्तरि' शब्दवाच्य है । द्रष्टव्य—'कटुकी' (कट्की—बंगला) ओषधि भी कफपित्तज्वर आदि रोगों की निवारक शक्तियों से पूर्ण होने से धन्वन्तरिग्रस्ता (धन्वन्तरिः रोगनिवारिका शक्ति ग्रस्ता आत्ता यया सा) नाम से कही जाती है । (द्र० वैद्यक निघण्टु) ।

६. [1]विस्मयकारी शक्ति-सम्पन्न प्रभु की प्रसन्नता तथा विस्मयकारी शक्ति-सम्पन्न शरीर की पुष्टि के लिये······॥

७. [2]जोव कर्मानुकूल ज्ञानवाला ईश्वर तथा अध्ययनानुकूल बुद्धिवाले विद्वान् की प्रसन्नता के लिये······॥

८. समस्त प्रजाओं के रक्षक वा स्वामी परमात्मा और सन्तानों की अच्छे प्रकार रक्षा करनेहारे पिता पितामह आदि की प्रसन्नता के लिए······॥

९. [3]प्रकाश एवं संसार का विस्तार करनेवाले प्रभु एवं तेजस्वी विस्तृत ज्ञानवाले विद्वानों के लिये······॥

१०. अधूरे कार्यों को पूर्ण करनेवाले वा इष्ट सुख देनेवाले प्रभु तथा कार्य को पूर्ण करने में सहायता देनेवाले मित्रों की प्रसन्नता के लिये······॥

प्रभु की आज्ञा है कि मनुष्य को उसके दिए भोग्य पदार्थों को अकेले भोग नहीं करना चाहिए। उन्हें दीन-दुःखियों एवं अभाव-ग्रस्तों को बांट कर स्वयं उपभोग करना चाहिए। जो व्यक्ति प्रभु की इस आज्ञा का पालन करते हैं, उन पर प्रभु की कृपा होती है, और वे कभी दरिद्र = अभाव-ग्रस्त नहीं होते। दान देने से धन की हानि नहीं होती। इसी प्रकार जिन श्रेष्ठ पुरुषों से हमें यथासमय विद्या धन सम्पत्ति वा साहाय्य प्राप्त होता है, उनको भी अन्नपान आदि से प्रसन्न रखने का प्रयत्न करना गृहस्थ का कर्तव्य है। इसी कर्तव्य को

---

१. कुह विस्मापने + ऊः। जिस अमावास्या में चन्द्र दिखाई पड़ता है, वह अमावास्या भी विस्मयकारी कुहू कहाती है।

२. अनु कृतकर्मानुसारिणी मति र्ज्ञानं यस्य सः।

३. दिवु द्युत्यर्थे + क्विप्, समासे 'द्यावा' आदेशः। पृथु विस्तारे + षिविन् + ङीष्। धर्मभेदाद् व्यक्तिभेदं मत्त्वैकस्मिन्नपि द्विवंचनम्।

स्मरण कराने के लिये बलिवैश्वदेव (=सब देवों के लिए बलि=पुष्टि कारक पदार्थ जिसमें दिए जाते हैं) कर्म का विधान है। ये १० आहुतियां इसी कर्तव्य का स्मरण कराती हैं।

इसके आगे 'बलिवैश्वदेव' का एक कर्म और बताया गया है, वह है—पशु-पक्षी क्षुद्र-प्राणी एवं दीन-दुखियों के लिये अपने भोज्य पदार्थ में से निकाल कर उन्हें खिलाना। वृद्धजनों में प्रचलित भोजन से पूर्व गो-ग्रास निकालना, कुत्ते कौवे आदि को रोटी डालना, चीटियों के विलों पर आटा डालना आदि कर्म बलिवैश्वदेव-यज्ञ के ही रूपान्तर हैं।

इति बलिवैश्वदेवयज्ञ-विधि ॥

अतिथियज्ञ-विधि

'अतिथि' उसको कहते हैं—जो विद्वान् उपदेशक मानव-जाति के सेवक भ्रमण करते हुए आश्रय के लिए अचानक गृहस्थ के द्वार पर उपस्थित हो जाते हैं। ऐसे महापुरुषों की सेवा-शुश्रूषा, अन्नपान आदि से पूजा करना 'अतिथि-यज्ञ' कहाता है।

अतिथि यज्ञ की महिमा अथर्ववेद (का० १५ सू० १०-१४) में बड़े विस्तार से लिखी है। अतिथियों को आश्रय न देनेवाले गृहस्थी को महापातकी कहा गया है। रात्रि के समय प्राप्त हुए अतिथि को विशेष रूप से आश्रय देने का विधान है। इसी परम्परा के कारण भारतीय अभ्यागत पुरुष की आतिथ्य-सेवा में सदा से प्रसिद्ध रहे हैं॥

इत्यतिथियज्ञ-विधि ॥

कुछ अन्य कृत्यों के मन्त्र

भोजन के समय का मन्त्र

दोनों समय प्रत्येक आर्य को भोजन से पूर्व निम्न मन्त्र से भोग्य-पदार्थों के दाता प्रभु की प्रार्थना करके भोजन करना चाहिए—

ओम् अन्न॑पतेऽन्न॑स्य नो देह्यनमीवस्य॑ शुष्मिण॑ः ।
प्रप्र॑ दातारं॑ तारिष ऊर्जं॑ नो धेहि द्विपदे॒ चतु॑ष्पदे ॥

यजुः अ० ११ । मं० ८३ ॥

भावार्थ—हे अन्न के स्वामिन् ! आप हमें स्वस्थ रखनेवाला और बलकारक अन्न प्राप्त कराओ। दीन-दुखियों और अभाव-पीड़ितों को अन्न का दान करनेवाले को अपनी कृपा से बढ़ाओ। हम दो पैर वाले मनुष्यों के पारिवारिक जनों और चार पैर वाले पशुओं के लिए अन्न बल पराक्रम देओ ॥

विशेष—इस मन्त्र में निम्न बातों का संकेत है—

(१) अन्न=समस्त भोग्य-पदार्थों का स्वामी परमात्मा है।

(२) उस अन्न का सेवन करना चाहिए, जो प्राणियों को स्वस्थ रखे और बल प्रदान करे।

(३) जिस मानव वा परिवार वा समाज के सहयोग से हम अन्न प्राप्त करने के योग्य होते हैं, उसके लिए शुभ कामना करनी चाहिए, उसका कृतज्ञ होना चाहिए।

(४) अपने पारिवारिक जनों एवं पशुओं के लिए भी बलकारक भोज्य-पदार्थ की प्राप्ति के लिए प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए।

जिस अन्न के आश्रय मनुष्यों का जीवन स्थिर रहता है, उस अन्न की सुरक्षा का पूरा ध्यान रखना चाहिये। आजकल घरों में जितना अन्न का नाश होता है, उतना पहले कभी नहीं होता था। उपनिषदों में आदेश है—**'अन्नं न निन्द्यात् तद् व्रतम्'** अन्न की निन्दा =दुरुपयोग न करने का प्रत्येक व्यक्ति को व्रत लेना चाहिये। पारस्कर गृह्यसूत्र १।५।१० में विवाह में विनियुक्त एक मन्त्र में अन्न-विषयक परम सत्य तत्त्व का प्रतिपादन किया है। मन्त्र में कहा है—**अन्नं साम्राज्यानामधिपतिः**—जिस राज्य में प्रजा अन्न के अभाव से पीड़ित नहीं होती वही राज्य स्थिर रहता है। अन्न के अभाव में भूखे मानव शोषण करने वाले बड़े बड़े साम्राज्यों को नष्ट कर देते हैं।

उपनिषद् में एक वाक्य आता है—**अन्नं ब्रह्म तदुपासीत**=अन्न को ब्रह्म समझो, उसका यथावत् उपयोग करो। उसका दुरुपयोग मत करो। भोजन के समय थाली में उपस्थित अन्न (यदि वह भक्ष्य है तो) को विना दोष-दर्शन=नुकताचीनी के प्रसन्नतापूर्वक भक्षण करना चाहिये। यही उसको ब्रह्म कहने और उसकी उपासना करने के विधान का तात्पर्य है। जो लोग खाते समय अन्न में साधारण सी नमक मिर्च की न्यूनाधिकता से बुरा भला कह कर अमनस्कता से भोजन करते हैं, उन्हें वह अन्न नहीं लगता, उससे उन्हें पूरा पोषण नहीं मिलता।

शयन-काल के मन्त्र

रात्रि को सोते समय प्रत्येक व्यक्ति को चाहिये कि वह निम्न मन्त्रों से मन के शिव-संकल्प की प्रार्थना करके सोये। सोते समय जिस भावना को लेकर मनुष्य सोता है, वह अति सुदृढ़ हो जाती है। यह सभी जानते हैं कि यदि कोई मनुष्य प्रातः ३-४ बजे उठने का

दृढ़ संकल्प करके सोए, तो उसकी नींद ठीक समय पर विना अलार्म के भी खुल जाती है। इसलिए सोते समय मन के शुद्धिकरण की प्रार्थना करके सोने से मन पवित्र होता है। बुरे स्वप्न आने बन्द हो जाते हैं। प्रातः उठते समय बड़ी शान्ति का अनुभव होता है। मन्त्र इस प्रकार हैं—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥१॥

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥२॥

यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥३॥

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥४॥

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥५॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥६॥

यजुः अ० ३४। मं० १-६॥

इन मन्त्रों के अर्थ 'शान्तिकरण' प्रकरण में पृष्ठ १५५-१६१ पर देखें।

शान्ति-पाठ

प्रत्येक यज्ञ, संस्कार वा सभा-समारोहों के अनन्तर कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए प्रभु से प्रार्थना करते हुए उसके रचे ब्रह्माण्ड के विविध दैवी-शक्ति-सम्पन्न पदार्थों से शान्ति की कामना करनी चाहिये। शान्ति-पाठ का मन्त्र इस प्रकार है—

ओं द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।१८।

यजुः अ० ३६।२४॥

इस मन्त्र का अर्थ 'शान्तिकरण' प्रकरण के पृ० १५३ पर देखें।

संगठन-सूक्त

आर्य समाजों के साप्ताहिक सत्संगों के अन्त में ऋग्वेद क अन्तिम सूक्त (१०।१९१) के पाठ करने की परिपाटी है। इस सूक्त में मानव को पारस्परिक भेद-भाव भुलाकर संगठित होकर एक दूसरे के सहायक बनकर कार्य करने की प्रेरणा दी गई है। मन्त्र इस प्रकार हैं—

ओं सं समिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्याभर ॥१॥

हे प्रभो ! तुम शक्तिशाली, हो बनाते सृष्टि को।
वेद सब गाते तुम्हें, कीजिये धन-वृष्टि को॥

ओं सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथापूर्वे सं जानाना उपासते ॥२॥

प्रेम से मिलकर चलो, बोलो सभी ज्ञानी बनो।
पूर्वजों की भांति तुम, कर्त्तव्य के मानी बनो ॥

ओं समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥३॥

हों विचार समान सब के, चित्त मन सब एक हों।
ज्ञान देता हूं बराबर, भोग्य पा सब नेक हों ॥

समानी व आकूती समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सु सहासति ॥४॥

हों सभी के दिल तथा, संकल्प अविरोधी सदा।
मन भरे हों प्रेम से, जिससे बढ़े सुख-सम्पदा ॥

वैदिक-राष्ट्रिय प्रार्थना

प्रत्येक राष्ट्रिय महत्वपूर्ण पर्व पर विशेषकर स्वतन्त्रता-दिवस तथा गणतन्त्र-दिवस पर राष्ट्र की सुख-समृद्धि की कामना के लिये प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिये। 'राष्ट्रिय प्रार्थना' का वैदिक मन्त्र इस प्रकार है—

ओम् आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

यजुः अ० २२। २२॥

इस वैदिक राष्ट्रिय प्रार्थना का पद्यानुवाद इस प्रकार है—

राष्ट्रिय-प्रार्थना

ब्रह्मन् ! स्वराष्ट्र में हों, द्विज ब्रह्म तेजधारी।
क्षत्रिय महारथी हों, अरिदल विनाशकारी॥
होवें दुधारु गौवें, पशु अश्व आशुवाही।
आधार राष्ट्र की हों, नारी सुभग सदा ही॥
बलवान् सभ्य योद्धा, यजमान-पुत्र होवें।
इच्छानुसार वर्षें, पर्जन्य ताप धोवें॥
फल-फूल से लदी हों, औषध अमोघ सारी।
हो योग-क्षेमकारी स्वाधीनता हमारी॥

●

प्रभु-भक्ति के कतिपय पद्य तथा भजन

प्रतिदिन सन्ध्योपासना, दैनिक अग्निहोत्र अथवा बृहद्यज्ञ के पश्चात् पठनीय एवं चिन्तनीय भक्ति-भावपूर्ण कतिपय मन्त्र-श्लोक और भजनों का संक्षिप्त सा संग्रह यहां किया जाता है। आशा है इस संग्रह से पाठकों को कुछ लाभ होगा—

संस्कृत पद्य

उप त्वा अग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि॥१॥ ऋक् १।१।७॥

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे॥२॥ ऋक् ८।९८।११॥

भावार्थ—हे प्रकाशस्वरूप प्रभो ! हम प्रतिदिन सायं प्रातः शुद्ध मन बुद्धि से आप की उपासना करते हैं, और नम्रता धारण करते हुए हम आप की शरण में प्राप्त होते हैं ॥१॥

हे असंख्य लोकों का निर्माण करनेवाले प्रभो ! आप ही हमारे माता पिता हैं। इसलिए हे आनन्दस्वरूप प्रभो ! हम आपसे आप का जो परम आनन्द है उसकी याचना करते हैं। हमें अपनी कृपा से अपने परमानन्द का भागी बनावें ॥२॥

इस द्वितीय मन्त्र की व्याख्या-स्वरूप निम्न श्लोक है—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥३॥

भावार्थ—हे सकल जगदुत्पादक प्रभो ! आप ही मेरी माता हैं, आप ही पिता हैं, आप ही बन्धु हैं, आप ही मित्र हैं, आपही विद्या= ज्ञान हैं, और आप ही धन सम्पत्ति ऐश्वर्य हैं। हे देवों के देव= देवाधिपते ! आप ही मेरे सब कुछ हैं ! आप के सिवाय मेरा सहायक और कोई नहीं है। इस लिये मैं आप का ही शरणागत हूं। शरणागत का सर्वविध कल्याण करना आपका स्वभाव है[1] ॥३॥

नमस्ते सते ते जगत्कारणाय, नमस्ते चिते सर्वलोकाश्रयाय ।
नमोऽद्वैततत्त्वाय मुक्तिप्रदाय, नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय ।४।

भावार्थ—हे अविनाशि-स्वरूप संसार के उत्पादक ! आपको मैं नमस्कार करता हूं। हे ज्ञानस्वरूप सब लोकों के धारण करने

---

१. यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि । तवेतत् सत्यमङ्गिरः ॥
ऋ० १।१।६॥

हे प्रकाशस्वरूप प्रिय प्रभो ! आप आत्म-समर्पण करनेवाले, शरण में आनेवाले का सर्वविध कल्याण करते हो, क्योंकि यह आपका सत्स्वभाव है।

वाले प्रभो! आपको मैं नमस्कार करता हूं। हे अद्वैत-स्वरूप मुक्ति प्रदान करनेवाले प्रभो! आपको मैं नमस्कार करता हूं। हे सब से महान् सर्वव्यापक प्रभो! आपको मैं नमस्कार करता हूं ॥४॥

भयानां भयं भीषणं भीषणानां गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम्।
महोच्चैः पदानां नियन्तृ त्वमेकं परेषां परं रक्षणं रक्षणानाम् ॥५॥

भावार्थ—हे प्रभो! आप भयों के भी भय हो, भयों के निवारक हो। प्राणियों की गति=प्राप्तिस्थान आप ही हो, समस्त प्राणी आपको प्राप्त करके ही आवागमन के चक्र से छूट कर स्थिरता प्राप्त करते हैं। पवित्र शुद्ध करनेवाले, दोषों के निवारक अग्नि वायु जल एवं उपदेशकों को भी शुद्ध करने वाले आप ही हो, आपसे शक्ति पाकर ही ये संसार को पवित्र करते हैं. अति महान् लोक-लोकान्तरों के आप ही नियामक हो, आपकी शक्ति से ही ये अपनी अपनी कक्षा में नियमित्त होकर, भ्रमण कर रहे हैं। आप ही सकल ब्रह्माण्ड की रक्षक दैवीशक्तियों एवं मानवजाति के रक्षकों के भी रक्षक हो। आपसे रक्षित होकर ही दैवीशक्तियां ब्रह्माण्ड को सुरक्षित रख रही हैं और आप से ही शरीर-मन-आत्मबल प्राप्त करके महापुरुष संसार की रक्षा करने में समर्थ होते हैं ॥५॥

असतो मा सद् गमय,
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्माऽमृतं गमय ॥६॥

भावार्थ—हे दयालु प्रभो! आप हमें असत् कर्म वचन और भावनाओं से हटाकर सत् कर्म वचन और भावनाएं प्राप्त कराओ। तम अन्धकार =अज्ञान से हटाकर ज्योतिः प्रकाश-ज्ञान प्राप्त कराओ मृत्यु से बचा कर अमृत नाशरहित नित्य सुखरूप मोक्ष को प्राप्त कराओ ॥६॥

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु ।
शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ॥७॥ यजुः ३६।२२॥

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात् ।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥८॥
अ० १९।१५।६॥

भावार्थ—हे प्रभो ! इस महान् ब्रह्माण्ड में जहां-जहां भी आप क्रियाशील हैं, उन सबसे हमें अभय करो । हमारी प्रजाओं तथा पशुओं के लिये कल्याण करो और हमें उन सबसे अभय करो । मित्र शत्रु ज्ञात और अज्ञात व्यक्ति से, दिन और रात्रि में हमें अभय करो । सब दिशा-उपदिशाएं मेरी मित्र बन जाएं ॥७-८॥

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नो चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥९॥

भावार्थ—हे कृपालो ! आप की कृपा से यदि हम ने इस जन्म में ही आपको जान लिया, तब तो हमारा यह मानुष जीवन सफल है, और यदि हम ने आप को नहीं पहचाना तब हमारा यह जीवन निरर्थक है । हे प्रभो! आप की ही कृपा से धीर बुद्धिमान् जन प्रत्येक पदार्थ में आप की सत्ता की अनुभूति करके इस मर्त्यलोक का परित्याग करके अमृतस्वरूप आपको प्राप्त होते हैं । इस कारण हम आप के ही शरणागत हैं । अपना स्वरूप जता कर हमें भी मोक्ष का अधिकारी बनाओ ॥९॥

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे भवन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥१०॥
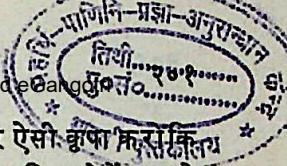
भावार्थ—हे प्रभो! आप हम सब प्राणियों पर ऐसी कृपा करो कि हम प्राणिमात्र सुखी होवें, रोग दु.ख भय पीड़ा से रहित होवें, अपने जीवनों को कल्याणमय अनुभव करें, और कोई भी प्राणी किसी भी प्रकार के दु:ख से दु:खी न होवें ॥१०॥

भक्तिमयी संस्कृत-गीतिका

हे विभो आनन्द-सिन्धो ! मे च मेधा दीयताम् ।
यच्च दुरितं दीनबन्धो ! तच्च दूरं नीयताम् ॥१॥
चञ्चलानि हीन्द्रियाणि मानसं मे पूयताम् ।
शरणं याचे तावकीनं सेवकम् अनुगृह्यताम् ॥२॥
त्वयि च वीर्यं विद्यते यत् तच्च मयि निधीयताम् ।
या च दुर्गुणदीनता मयि सा तु शीघ्रं क्षीयताम् ॥३॥
शौर्य-धैर्यं तैजसं च भारते चेक्रीयताम् ।
हे दयामय ! अयि अनादे ! प्रार्थना मम श्रूयताम् ॥४॥

भावार्थ—हे सर्वव्यापक आनन्दसिन्धो । मुझे उत्तम बुद्धि दीजिए । हे दीनबन्धो ! मेरे में जो बुरे गुण कर्म स्वभाव हैं उन्हें दूर कीजिये । मेरी चञ्चल इन्द्रियों और मन को पवित्र कीजिये । हे शरणागत को शरण देनेवाले प्रभो ! मैं आप की शरण आश्रय की याचना करता हूं, अपनी शरण में लेकर मुझ सेवक को अनुगृहीत कीजिये । हे सर्वशक्तिमन् ! आप में जो शक्ति है वह मुझ में धारण कराइये और जो दुर्गुण दीनता निर्बलता मुझ में है उसे शीघ्र दूर कीजिये । हे कृपानिधान ! हमारे भारत के सभी आबाल वृद्ध स्त्री-पुरुषों को शूरवीर और तेजस्वी बनाइये । हे अनादे दयामय ! मेरी यह प्रार्थना सुनिये और इस याचना को शीघ्र पूर्ण कीजिये ॥१-४॥

ईश-प्रार्थना (१)

सुखी बसे संसार सब, दुखिया रहे न कोय ।
यह अभिलाषा हम सब की, भगवन् ! पूरी होय ।।१।।

बुद्धि-विद्या-तेज-बल, सब के भीतर होय ।
दूध-पूत-धन-धान्य से, वञ्चित रहे न कोय ।।२।।

आपकी भक्ति प्रेम से, मन होवे भरपूर ।
राग-द्वेष से चित्त मेरा, कोसों भागे दूर ।।३।।

मिले भरोसा नाम का, हमें सदा जगदीश ।
आशा तेरे नाम की, बनी रहे मम ईश ।।४।।

पाप से हमें बचाइये, करके दया दयाल ।
अपनी भक्ति प्रेम से, सब को करो निहाल ।।५।।

भजन (२)

पितु मातु सहायक स्वामी सखा, तुम ही इक नाथ हमारे हो ।
जिनके कछु और आधार नहीं, तिनके तुम ही रखवारे हो ।।१।।

सब भांति सदा सुखदायक हो, दुःख दुर्गुण नाशनहारे हो ।
प्रतिपाल करो सिगरे जग को, अतिशय करुणा उर धारे हो ।।२।।

भुलिहैं हम ही तुम को तुम तो, हमरी सुधि नाहिं बिसारे हो ।
उपकारन को कछु अन्त नहीं, छिन ही छिन जो बिस्तारे हो ।।३।।

महाराज महा महिमा तुम्हरी, समझें बिरले बुधिवारे हो ।
शुभ शान्ति-निकेतन प्रेमनिधे, मन-मन्दिर के उजियारे हो ।।४।।

यहि जीवन के तुम जीवन हो, इन प्राणन के तुम प्यारे हो ।
तुम सों प्रभु पाय प्रताप हरी, केहि के अब और सहारे हो ।।५।।
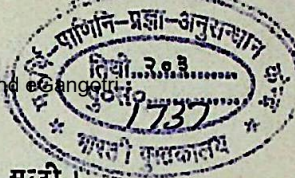
भजन (३)

प्रणाम ईश तुझ को, तेरी यह महिमा सारी।
हर जीव में विराजे, ज्योति प्रभु तुम्हारी ॥१॥

सूरज ये चांद तारे, चमकें तेरे सहारे।
सब काम को सवारे, उन पै कृपा तुम्हारी ॥२॥

योगी ऋषि मुनि जन, फल फूल वन के खाकर।
तेरी ही धुन लगावें, उन पै कृपा तुम्हारी ॥३॥

मन्दिर ये मस्जिदें और, गिरजे वा गुरुद्वारे।
तेरे नाम के नजारे, सब तू ही तू पुकारे ॥४॥

प्रभु तेरा नाम लेकर, कर बांध विनति करते।
भक्ति का दान दीजै, उस के हैं हम भिखारी ॥५॥

भजन (४)

आज मिल सब गीत गाओ, उस प्रभु के धन्यवाद।
जिस ..ा यश नित गाते हैं, गन्धर्व मुनिजन धन्यवाद ॥१॥

मन्दिरों में कन्दरों में, पर्वतों के शिखर पर।
देते हैं लगातार सौ सौ, बार मुनिवर धन्यवाद ॥२॥

करते हैं जंगल में मंगल, पक्षिगण हर शाख पर।
पाते हैं आनन्द मिल, गाते हैं स्वरभर धन्यवाद ॥३॥

कूप में तालाब में, सागर की गहरी धार में।
प्रेम-रस में तृप्त हो, करते हैं जलचर धन्यवाद ॥४॥

शादियों में कीर्त्तनों में, यज्ञ और उत्सव के आदि।
मीठे स्वर से चाहिए, करें नारी नर सब धन्यवाद ॥५॥

गान कर 'अमीचन्द', भजनानन्द ईश्वर की स्तुति।
ध्यान धर सुनते हैं श्रोता, कान धर धर धन्यवाद ॥६॥

भजन (५)

जय जय पिता परम आनन्द दाता ।
जगदादि कारण मुक्ति प्रदाता ॥१॥

अनन्त और अनादि विशेषण हैं तेरे ।
सृष्टि का स्रष्टा तू धर्त्ता संहर्त्ता ॥२॥

सूक्ष्म से सूक्ष्म तू है स्थूल इतना ।
कि जिसमें यह ब्रह्माण्ड सारा समाता ॥३॥

मैं लालित व पालित हूं पितृस्नेह का ।
यह प्राकृत सम्बन्ध है तुझ से ताता ॥४॥

करो शुद्ध मिर्मल मेरे आत्मा को ।
करूं मैं विनय नित्य सायं व प्रातः ॥५॥

मिटाओ मेरे भय आवागमन के ।
फिरूं न जन्म पाता और बिलबिलाता ॥६॥

विना तेरे है कौन दीनन का बन्धु ।
कि जिस को मैं अपनी अवस्था सुनाता ॥७॥

"अमी" रस पिलाओ कृपा करके मुझको ।
रहूं सर्वदा तेरी कीर्ति को गाता ॥८॥

भजन (६)

विधाता तू हमारा है, तू ही विज्ञान-दाता है ।
बिना तेरी दया कोई, नहीं आनन्द पाता है ॥ विधाता० ॥

तितिक्षा की कसौटी पर, जिसे तू जांच लेता है ।
उसी विद्याधिकारी को, अविद्या से छुड़ाता है ॥ विधाता० ॥

सताता जो न औरों को, न धोखा आप खाता है ।
वही सद् भक्त है तेरा, सदाचारी कहाता है ॥ विधाता० ॥
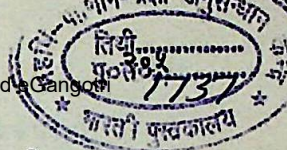
सदा जो न्याय का प्यारी, प्रजा को दान देता है।
महाराजा उसी को तू, बड़ा राजा बनाता है ॥ विधाता० ॥
तजे जो धर्म को धारा, कुकर्मों की बहाता है।
न ऐसे नीच पापी को, कभी ऊंचा चढ़ाता है ॥ विधाता० ॥
स्वयंभू शंकरानन्दी, तुझे जो जान लेता है।
वही कैवल्य-सत्ता की, महत्ता में समाता है ॥ विधाता० ॥

भजन (७)

शरण प्रभु की आओ रे, यही समय है प्यारे।
आओ प्रभु गुण गाओ रे, यही समय है प्यारे ॥
छल कपट और झूठ को त्यागो, सत्य में चित्त लगाओ रे ॥यही०॥
उदय हुआ ओम् नाम का भानु, आओ दर्शन पाओ रे ॥यही०॥
पान करो इस अमृत जल का, उत्तम पदवी पाओ रे ॥यही०॥
ओम् की भक्ति बिना नहीं मुक्ति, दृढ़ विश्वास जमाओ रे ॥यही०॥
मानव जन्म अमूल्य है प्राणी, व्यर्थ न इसे गंवाओ रे ॥यही०॥
करलो नाम प्रभु का सुमिरन, अन्त में न पछताओ रे ॥यही०॥

भजन (८)

यज्ञरूप प्रभो हमारे भाव उज्ज्वल कीजिये।
छोड़ देवें छल कपट को, मानसिक बल दीजिये ॥१॥
वेद की बोलें ऋचाएं, सत्य को धारण करें।
हर्ष में हों मग्न सारे, शोक-सागर से तरें ॥२॥
अश्वमेधादिक रचायें, यज्ञ पर-उपकार को।
धर्म-मर्यादा चला कर, लाभ दें संसार को ॥३॥
नित्य श्रद्धा-भक्ति से, यज्ञादि सब करते रहें।
रोग-पीड़ित विश्व के, सन्ताप सब हरते रहें ॥४॥
भावना मिट जाये मन से, पाप अत्याचार की।
कामनाएं पूर्ण होवें, यज्ञ से नर नार की ॥५॥

लाभकारी हो हवन, हर जीवधारी के लिए।
वायु जल सर्वत्र हों, शुभ गन्ध को धारण किये ॥६॥
स्वार्थ-भाव मिटे हमारा, प्रेम-पथ विस्तार हो।
'इदं न मम' का सार्थक, प्रत्येक में व्यवहार हो ॥७॥
हाथ जोड़ झुकाए मस्तक, वन्दना हम कर रहे।
'नाथ' करुणारूप ! करुणा, आपकी सब पर रहे ॥८॥

आरती

जय जगदीश हरे

ओम् जय जगदीश हरे स्वामी जय जगदीश हरे।
भक्त जनों के संकट क्षण में दूर करे। ओं० ॥१॥
जो ध्यावे फल पावे दुःख विनशे मन का।
सुख सम्पति घर आवे कष्ट मिटे तन का। ओं० ॥२॥
मात पिता तुम मेरे शरण गहूं किस की।
तुम बिन और न दूजा आस करूं जिस की। ओं० ॥३॥
तुम पूर्ण परमात्मा तुम अन्तर्यामी।
पारब्रह्म परमेश्वर तुम सब के स्वामी। ओं० ॥४॥
तुम करुणा के सागर तुम पालन कर्ता।
मैं सेवक तुम स्वामी कृपा करो भर्ता। ओं० ॥५॥
तुम हो एक अगोचर सब के प्राणपति।
किस विध मिलूं दयामय तुमको मैं कुमति। ओं० ॥६॥
दीनबन्धु दुःख हर्ता तुम रक्षक मेरे।
अपने हाथ उठाओ द्वार पड़ा तेरे। ओं० ॥७॥
विषय विकार मिटाओ पाप हरो देवा।
श्रद्धा भक्ति बढ़ाओ सन्तन की सेवा। ओं० ॥८॥

इति वैदिक-नित्यकर्म-विधि ॥

आर्यसमाज के नियम
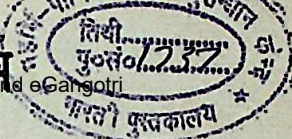
१—सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्द-स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर. सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सब से प्रीति-पूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्व-हितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये, और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

प्राचीन आर्ष वाङ्मय से सम्बद्ध तथा ऋषि दयानन्द कृत ग्रन्थ

१. यजुर्वेदभाष्य-विवरण (प्रथम भाग)—इस ग्रन्थ में महर्षि दयानन्द प्रणीत यजुर्वेदभाष्य के प्रथम दस अध्यायों पर ऋषिभक्त वेदमर्मज्ञ स्वर्गीय श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। मूल वेदभाष्य को ऋषि के हस्तलेखों से मिलान करके छापा गया है। विस्तृत भूमिका तथा वेदविषयक विविध टिप्पणियों से युक्त। सुन्दर मुद्रण, सुदृढ़ जिल्द। मू० १६-००

द्वितीय भाग छप रहा है।

२. ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्म-चरित। मू० ०-५०

३. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन परिशिष्ट सहित—सं० श्री पं० भगवद्दत्तजी। मू० ७-७५

४. संस्कारविधि—ले० महर्षि दयानन्द सरस्वती। द्वितीय संस्करण पर आधृत, अजमेर-मुद्रित संस्करणों के दोषों से रहित; टिप्पणियों से युक्त। मू० १-७५। सजिल्द २-२५

५ संस्कार-समुच्चय—लेखक—पं० मदनमोहन विद्यासागर। संस्कारविधि की व्याख्या तथा परिशिष्ट में अनेक समयोपयोगी कर्मों का संग्रह। सजिल्द मूल्य १२-००

६. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—सं० पं०युधिष्ठिर मीमांसक। मोटे टाइप, बड़े आकार में सुन्दर शुद्ध और सटिप्पण संस्करण। मू. १२-००

भूमिका पर किए गए आक्षेपों के उत्तर के लिए परिशिष्ट १-५०

७. निरुक्त-शास्त्र—श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत नैरुक्त-प्रक्रियानुसारी हिन्दीभाष्य सहित। मू० १५-००

८. ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत साहित्य को देन—ले० प्रो० भवानीलाल जी भारतीय एम० ए०, पी-एच० डी०। मू० सजिल्द ६-०० मात्र

९. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। ग्रन्थ में आज तक के प्रमुख वैयाकरणों तथा उनके ग्रन्थों का इतिहास दिया गया है। मू० भाग १, १५-००, भाग २, १५-००

१०. वैदिक-स्वर-मीमांसा—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। संशोधित परिवर्धित द्वितीय संस्करण। वैदिक स्वर-विषयक सर्वश्रेष्ठ विवेचनात्मक ग्रन्थ। उत्तर प्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत। मू० ४-००

११. वैदिक छन्दोमीमांसा—वैदिक छन्दः सम्बन्धी विवेचनात्मक सर्वोत्तम ग्रन्थ। उत्तर प्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत। लेखक पं० युधिष्ठिर मीमांसक। मू० ४-५०

१२. काशकृत्स्न-व्याकरणम्—सं० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। पाणिनीय व्याकरण से पूर्ववर्ती काशकृत्स्न व्याकरण के उपलब्ध १४० सूत्रों की व्याख्या तथा इतिहास (संस्कृत में) मूल्य ३-००

१३. काशकृत्स्न-धातु-व्याख्यानम्—चन्नवीर कविकृत कन्नड़ टीका का पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत संस्कृत-रूपान्तर। मू० ६-२५

१४. वामनीयलिङ्गानुशासनं स्वोपज्ञवृत्ति-सहितम्—संस्कृत भाषा के शब्दों का लिङ्गबोधक सरल संक्षिप्त ग्रन्थ।

मू० २-००, सजिल्द ३-००।

१५. निरुक्तसमुच्चयः—आचार्य वररुचिकृत नैरुक्तसम्प्रदाय का प्रामाणिक ग्रन्थ। सं० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। मूल्य ५-००

१६. शिक्षासूत्राणि—आपिशलि, पाणिनि और चन्द्रगोमी प्रोक्त। सं० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। मू० १-५०।

१७. वेद-संज्ञा-मीमांसा—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। मू०-५०

१८. ऋग्वेद की ऋक्संख्या—लेखक पं० युधिष्ठिर मीमांसक। इसमें ऋग्वेद की ऋचाओं की शुद्ध संख्या दर्शाई है, और अनेक विद्वानों द्वारा दर्शाई अशुद्ध ऋक्संख्या की आलोचना की गई है।

१९. सं० व्याकरण में गणपाठ क[illegible]
पाणिनि—डा० कपिलदेव ।

२०. अष्टोत्तरशतनाममालिका—लेख[illegible]
शास्त्री एम० ए० । सत्यार्थप्रकाश के प्रथम [illegible]
ईश्वर नामों की विस्तृत व्याख्या ।

२१. संस्कृतवाक्यप्रबोध—स्वामी द[illegible]
पं० अम्बिकादत्त व्यास द्वारा 'अबोध-निवार[illegible]
गये आक्षेपों का पाणिनीय व्याकरण के [illegible]
गया है । सम्पादक पं० युधिष्ठिर मीमांसक । [illegible]

२२. संस्कृत पठनपाठन की अनुभूत सर[illegible]
ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु । इस ग्रन्थ के द्वारा बिना र[illegible] संस्कृत भाषा और
पाणिनीय व्याकरण का बोध कराया गया है । प्रथम भाग ३-५०

द्वितीय भाग—ले० युधिष्ठिर मीमांसक । प्रथम भाग के
निर्देशों के अनुसार । मू० ५-५०

२३. शब्दरूपावली—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक । ०-७५

२४. बृहद् हवनमन्त्र—मन्त्रों का शब्दार्थ तथा भावार्थ हिन्दी
में । सं० पं० रामावतार शर्मा मू० ०-७५

२५. विदुरनीति—पदार्थ तथा विस्तृत व्याख्या सहित । व्या-
ख्याता पं० युधिष्ठिर मीमांसक । ४०० पृष्ठ, प्रचारार्थ अल्प मू० ४-५०

पुस्तक-प्राप्ति-स्थान

रामलाल कपूर एण्ड संस पेपर मर्चेन्ट्स

गुरु बाजार, अमृतसर ।] [नई सड़क, देहली ।
बारी मार्केट, सदर बाजार, देहली ।] [बिरहाना रोड, कानपुर ।
५१ सुतारचाल, बम्बई ।]

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, (सोनीपत—हरयाणा)